

महासागर से मिलने की शिक्षा

अनुपम मिश्र

हरित स्वराज

महासागर से मिलने की शिक्षा

ISBN: 81-86624-13-6

प्रकाशक

सिस्टम्स विज़न

ए-199, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज़-1, नई दिल्ली-110020

systemsvision@gmail.com

विषयसूची

भूमिका	iv
महासागर से मिलने की शिक्षा	1
जड़ें	9
राज, समाज और पानी	13
नर्मदा घाटी: सचमुच कुछ घटिया विचार	25
तैरने वाला समाज डूब रहा है	34
ना जा स्वामी परदेसा	47
अकेले नहीं आते बाढ़ और अकाल	58
रावणा तोंडी रामायण	74
साध्य, साधन और साधना	79
दुनिया का खेला	84
शिक्षा: कितना सर्जन, कितना विसर्जन	98

भूमिका

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस समय हिन्दी गद्य में जो कुछ साफ़-सुथरे माथेवाले गद्यकार हैं, उनमें अनुपम मिश्र का नाम उनकी स्पष्ट दृष्टि, अविचल निष्ठा और अनूठी शैली के लिए शामिल करना सर्वथा समीचीन है। वे साहित्यकार नहीं हैं और उनकी गिनती हमारे समय के विख्यात पर्यावरणविदों में, आदर के साथ, होती है। पर वे साधारण जीवन की घटनाओं, मर्म-प्रसंगों और सजल अनुभवों से जो दुनिया हमारे सामने रखते हैं, वह हमारी होते हुए भी इतनी अनोखी और अलक्षित लगती है। हम अचरज से भर जाते हैं यह जानकर कि यह सब हमारी अपनी दुनिया और समय में सामान्य रूप से अपनी लय में घटता रहता है और अक्सर हमारा साहित्य इसकी अनदेखी करता आया है। बिना किसी नाटकीयता के, बिना किसी उलझाव या अनावश्यक जटिलता के, अनुपम मिश्र हमें अक्सर वहाँ ले जाते हैं जहाँ भाषा पहले न गयी हो। सच्चा साहित्य यही करता है — इसके अलावा और कर भी क्या सकता है?

अनुपम मिश्र को पढ़ते हुए यह भाव जागता है कि हमारे समय और सभ्यता में बहुत कुछ बरबाद या हाशिये पर फेंक दिये जाने के बावजूद विकल्प संभव हैं। सपना देखने की हमारी ज़रूरत और हिम्मत कम होने की कोई अनिवार्य बाध्यता नहीं है। ऐसा गद्य इतना कम है, इन दिनों, जो हमें आश्वस्त करता हो कि दुनिया अब भी बदली जा सकती है। अनुपम मिश्र इस अर्थ में सामान्य

और संभव के अप्रतिम शिल्पकार हैं। उन्हें उस गद्य की परंपरा में आसानी से देखा-रखा जा सकता है जो हिन्दी में ग़ैर-साहित्यकारों जैसे राममनोहर लोहिया, राजेन्द्र माथुर, प्रभाष जोशी आदि ने स्थापित की और जिसने हमारे साहित्य के परिसर में विस्तार किया है: उसे अधिक मानवीय, विचारशील और प्रश्नवाचक, दूसरे शब्दों में अधिक लोकतांत्रिक, बनाया है।

अशोक वाजपेयी

महासागर से मिलने की शिक्षा

पहले दो शब्द अपने बारे में।

फिर दो शब्द आज के इस भव्य और पुनीत समारोह के बारे में।

और फिर दो शब्द हमारे आसपास बन गई, खड़ी हो रही एक नई-सी दुनिया के बारे में।

इस दुनिया से तो न तो हम ठीक से जुड़ पा रहे हैं और न इससे पूरी तरह अलग हो पाते हैं। हम त्रिशंकु की तरह अधर में लटके रह जाते हैं। अधर की यह अटकन हमें बहुत सालती है, तंग करती रहती है। इसलिए इसे भी थोड़ा समझने की कोशिश करेंगे।

तो इस तरह दो-दो और दो— कुल छह शब्द ही तो होंगे। पर होंगे कुछ हजार शब्द! यह कैसा जोड़ है? यह कैसा गणित है? यह गणित थोड़ी-सी नई पढ़ाई पढ़ गए संसार का गणित है और उसे यह गणित खूब भाता है, पसंद आता है। वह अपने छोटे-छोटे प्रायः ओछे-ओछे कामों का बखान खूब जोर-शोर से करता है और अपनी छोटी-सी दुनिया के अलावा जो एक बहुत बड़ा संसार है, उसके बड़े-बड़े कामों को एक तो जोड़ता तक नहीं, जोड़े भी तो जोड़ का परिणाम बहुत कम करके आंकता है। यह गणित गांधीजी को जरा भी पसंद नहीं था।

तो पहले दो शब्द अपने बारे में। वह भी इसलिए नहीं कि मुझे अपना कुछ बखान बढ़ा-चढ़ाकर करना है। एकदम साधारण जीवन। न तो आज की आधुनिक पढ़ाई पढ़ी और न बुनियादी तालीम से कुछ सीखने-समझने का मौका मिला। मामूली-सी उपाधि, डिग्री। वह भी साधारण से नंबरों वाली। इतनी मामूली कि उसे दीक्षांत समारोह में जाकर लेने की भी हिम्मत नहीं हुई। वह उसी विश्वविद्यालय में कहीं सुरक्षित रखी होगी या क्या पता अब तक कूड़े में, पस्ती में, रद्दी में बेच दी होगी।

अब दो शब्द आपके इस पुनीत समारोह के बारे में।

आज का यह उत्सव आपके जीवन का एक नया मोड़ है। दीक्षांत यानी दीक्षा का अंत। लेकिन मेरा विनम्र निवेदन है कि वास्तव में आज से आपकी दीक्षा का प्रारंभ होने जा रहा है। इसलिए इस दीक्षांत समारोह को अब दीक्षारंभ समारोह मानें। गुजराती में इसका नाम बहुत अच्छा है— पदवीदान। वैसे देखा जाए तो आपको यह पदवी दान में नहीं मिल रही। इसे तो आपने अपने श्रम से, बौद्धिक श्रम से अर्जित किया है। पर मैं पदवीदान का शाब्दिक अर्थ नहीं ले रहा। उसका एक अर्थ यह भी है कि जो पदवी आपने अर्जित की है, अब आज यहाँ से बाहर निकलने पर पदवी का आप समाज में दान करें। यानी जो ज्ञान आपने अर्जित किया है, अब उसे आप समाज में उनके बीच बाँटने निकलें, जो कई कारणों से ऐसा ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते थे। यह ज्ञान आपके लिए ऐसा रामरतन बन जाना चाहिए कि जिसका जितना उपयोग आप करेंगे, वह उतना ही बढ़ता जाए, कभी कहीं भी कम न हो।

विद्यापीठ की स्थापना के समय सन् 1920 में गांधीजी ने यहीं पर जो पहला भाषण दिया था, उसमें उन्होंने कहा था कि इसकी स्थापना का हेतु केवल विद्यादान नहीं है, विद्या देना नहीं है। विद्यार्थी के लिए गुजारे का साधन जुटाना भी एक उद्देश्य है। इस वाक्य को पूरा करते ही उन्होंने आगे के वाक्य में कहा था कि इसके लिए मैं जब इस विद्यापीठ की तुलना दूसरी शिक्षण संस्थाओं से करता हूँ तो मैं चकरा जाता हूँ। उन्होंने इस विद्यापीठ की तुलना उस समय के बड़े माने गए, बड़े बताए गए दूसरे विद्यालयों से करते हुए एक भिन्न अर्थ में इसे अणु-विद्यालय, एक लघु, यानी छोटा-सा विद्यालय कहा था। यहां के मुकाबले दूसरी संस्थाओं में ईट-पत्थर, चूना कहीं ज्यादा लगा था— ऐसा भी तब गांधीजी ने कहा था। लेकिन इस मौके पर हम यह दुहरा लें कि अणु दिखता छोटा-सा ही है, पर उसके भीतर ताकत तो अपार होती है।

लेकिन अभी उस अणु की शक्ति और ईट-पत्थर, चूने की बात यहीं छोड़ें। वापस लौटें गुजारे के साधन पर। तब गांधीजी चकरा गए थे। आज होते तो वे न जाने कितना ज्यादा चकरा जाते। आज तो इसी शहर में ऐसी अनेक शिक्षण संस्थाएं हैं, जिनमें पदवीदान से पहले ही, उपाधि हाथ में आने से पहले

ही 2-5 लाख रुपये की पगार हर महीने मिल सके— ऐसी नौकरी उन छात्रों की गोद में डाल दी जाती है।

ऐसी वैभवशाली नौकरियों की तरफ लालच भरी निगाह से देखेंगे, और पता चलेगा कि वैसी पगार तो हमें मिलने वाली नहीं तो हमें निराशा हो सकती है। एक आशंका यह भी है कि ये अंगूर हमें 'खट्टे' लगें। पर एक तीसरा रास्ता है। वैसी नौकरियों और उससे जुड़े एक छोटे-से संसार का पूरे विवेक के साथ विश्लेषण करें, अच्छी तरह से उसकी पड़ताल करें तो हममें सबको न सही, कुछ को तो यह लगेगा ही कि यह सुनहरा-सा दिखने वाला रास्ता जरूरी नहीं कि हमें खूब सुख और खूब संतोष की तरफ ले जाए।

यह रास्ता पश्चिम के देशों, अमीर मान लिए गए जिन देशों के जिस मिट्टी, पत्थर और डामर से बना है, उसकी मजबूती की कोई पक्की गारंटी नहीं है। पिछले दो-पांच वर्षों में आप सबने देखा ही है कि समृद्धि की सबसे आकर्षक चमक दिखाने वाले अमेरिका जैसे देश भी भयानक मंदी के शिकार हुए हैं और वहां भी इस अर्थव्यवस्था ने गजब की तबाही मचाई है। अमेरिका के बाद ग्रीस, स्पेन भी भयानक मंदी में डूबे हैं। उधारी की अर्थव्यवस्था में डूबे इन सभी देशों को तारने के लिए किफायत की लाइफ जैकेट नहीं फेंकी गई है। उन्हें तो विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे बड़े महाजनों ने और उधार देकर बचाना चाहा है।

हम सब प्रायः यहां साधारण घरों से ही आते हैं। हमारे मां-पिता ने बड़ी मुश्किल से कुछ पैसे बचाए होंगे, ताकि हम पढ़-लिख कर कुछ बन जाएं और उनके कंधों पर जो घर का बड़ा भार टिका है, उसे थोड़ा ही सही हल्का करें। इसलिए यहां से निकल कर कोई ठीक नौकरी मिले तो अच्छा ही होगा। पर मैं आप सबसे एक छोटा-सा निवेदन करूंगा, इस विषय में।

हिन्दी में और गुजराती में भी दो शब्द हैं— एक नौकरी दूसरा शब्द है चाकरी। नौकरी कीजिए आप जीविका के लिए। जो भी काम करें उसमें अपना मन ऐसा उडेल दें कि वह काम आपका खुद का काम बन जाए— किसी दूसरे के लिए किया जाने वाला काम नहीं बने। नौकरी में चाकरी का भाव जितना सध सकेगा आपसे, उतना आनंद आने लगेगा और तब आप उसे केवल पैसे के तराजू पर तोलने के बदले संतोष के तराजू पर तोलने लगेंगे— यह साधना

थोड़ी-सी आगे बढ़ी नहीं कि फिर आपको इस तराजू की भी जरूरत नहीं रह जाएगी। आप तोलने वाले सारे बाँट भी फेंक देंगे।

विद्यापीठ बनी सन् 1920 में। इस तरह यह आज हमें काफी पुरानी लगेगी। पर देश में दो और पुरानी विद्यापीठों का मैं कुछ उल्लेख आपके सामने करना चाहूंगा। उनकी उमर देखेंगे तो यह विद्यापीठ एकदम ताजी, आज की लगेगी।

हमारे बताए गए सुनहरे इतिहास में एक विद्यापीठ थी नालंदा और दूसरी थी तक्षशिला। संस्कृत के विद्वान इनके नामों का जो भी अर्थ निकालें, वे जानें। पर इन विद्यापीठों के आसपास रहने वालों ने इनके नामों को अपने हिसाब से सरल कर रखा था— ना-अलम-दा — यानी कम मत देना। ज्ञान कम मत देना। हम तुम्हारी इस विद्यापीठ नालंदा में आए हैं तो हमें खूब ज्यादा से ज्यादा ज्ञान देना।

दूसरी विद्यापीठ का अर्थ है तक्ष यानी तराशना, शिला यानी पत्थर, या चट्टान। अनगढ़ पत्थर में से यानी साधारण से दिखने वाले पत्थर में से, शिक्षक, अध्यापक अपने सधे हाथों से, औजारों से एक सुंदर मूर्ति तराश कर निकालें। मामूली से छात्र को एक उपयोगी, संवेदनशील नागरिक के रूप में तराश कर उसके परिवार और समाज को वापस करें।

इन दो नामों के साथ छात्र शब्द की भी एक व्याख्या देखें— जो गुरु के दोषों को एक छात्र की तरह ढंक दे— वह है छात्र। तो इन नामों का यह सुंदर खेल कुछ हजार बरस पहले चला था और हमें आज भी कुछ प्रेरणा दे सकता है। पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि नालंदा और तक्षशिला जैसी इतनी बड़ी-बड़ी विद्यापीठ आज तो खंडहर बन गई हैं और बहुत हुआ तो पर्यटकों के काम आती हैं। उनकी ईंट से ईंट बज चुकी है।

तो इससे हमें यह समझ आना चाहिए कि संस्थाएं, खास कर शिक्षण संस्थाएं केवल ईंट-पत्थर, गारे, चूने से नहीं बनतीं। वे गुरु और छात्रों के सबसे अच्छे संयोग से बनती हैं, उसी से बढ़ती हैं और उसी से टिकती भी हैं। यह बारीक संयोग जब तक वहां बना रहा, ये प्रसिद्ध शिक्षण संस्थान भी चलते रहे। आप सब जानते ही हैं कि इनमें से कैसे-कैसे बड़े नाम उस काल में निकले। कैसे-कैसे बड़े-बड़े प्राध्यापक वहां पढ़ाते थे, चाणक्य जैसी विभूतियां वहां थीं, जिनका लिखा लोग इतने सैकड़ों बरस पहले भी पढ़ते थे और उनके लिखे वे सारे अक्षर आज भी क्षर नहीं हुए हैं, आज भी मिटे नहीं हैं। लोग उन्हें आज

भी पढ़ते हैं। नालंदा और तक्षशिला को राज्याश्रय भी खूब था, पर वह राज ही नहीं बचा तो आश्रय कहां बचता।

इसलिए आज यहां से उपाधि लेकर समाज में बाहर निकलते हुए मन में आप किसी तरह की हीन भावना न आने दें। आप बहुत भाग्यशाली हैं कि आपको एक ऐसी विद्यापीठ में प्रवेश का संयोग मिला जिसे खुद गांधीजी ने बनाया था, जो खुद सन् 1920 से अपनी आखिरी सांस तक इसके कुलपति रहे और जिन्होंने उस बेहद कठिन दौर में देश की आजादी से लेकर बीमार की सेवा तक के हजारों कामों को करते हुए भी इस विद्यापीठ का पूरा ध्यान रखा। उन्हें इसके भविष्य के बारे में बहुत आशा थी। उन्होंने इसी आंगन में एक बार कहा था कि “मैं खुद तो बूढ़ा हूं, पका हुआ पत्ता हूं। दूसरे कामों में फंसा हुआ हूं। मेरे जैसा पका हुआ पत्ता अगर झड़ जाए तो उससे (इस) पेड़ को कोई आंच नहीं आएगी। आचार्य और अध्यापक भी इसी पेड़ के पत्ते ही हैं, हालांकि वे अभी कोमल, मुलायम हैं। कुछ समय बाद वे भी पके पत्ते बनकर शायद झड़ जाएंगे। लेकिन विद्यार्थी इस सुंदर पेड़ की डालियां हैं और इन डालियों से भविष्य में आचार्य और अध्यापकों के रूप में पत्ते फूटने वाले हैं।”

देश की सभी उच्च शिक्षण संस्थाओं में नियमित पढ़ाई-लिखाई के अलावा शोध का काम भी चलता है। यहां भी शोध होता ही है। मैं आप सबके बीच एक तरह से पहली बार ही आया हूं, इसलिए यहां शोध की व्यवस्था के बारे में ठीक-ठीक जानकारी नहीं है मुझे। फिर भी बहुत डरते-डरते, बहुत संकोच के साथ यह निवेदन करना चाहता हूं कि शोध में यदि श्रद्धा का भाव नहीं जुड़ेगा तो वह कितना ही अच्छा हो, हमें एक डिग्री जरूर देगा, पर हमारे समाज को उससे कुछ ज्यादा नहीं मिलेगा। हर वर्ष यहां से होने वाले शोध-अध्ययनों में से एक-दो तो ऐसे होने ही चाहिए, इस दर्जे के होने ही चाहिए कि वे पूरे देश में अपना झंडा फहरा दें। आखिर आप किसी मामूली विद्यापीठ से नहीं हैं। इसके पीछे वो झंडा, गांधी का झंडा है, जिसने उस अंग्रेज साम्राज्य का झंडा झुकवा दिया था, जहां कभी सूर्यास्त ही नहीं होता था।

मुझे यह बताते हुए अटपटा ही लग रहा है, अच्छा नहीं लग रहा कि पूरे देश में गांधी विचार की शोध में कोई चमक, उत्साह, आनंद नहीं दिखता। गांधी अध्ययन केंद्रों की संख्या खूब बढ़ गई है और वहां से शोध कर उपाधि पाए शोधार्थियों की संख्या भी खूब है— इन आंकड़ों पर हमें गर्व भी हो सकता

है, पर क्या हम सचमुच कह सकते हैं कि ये शोध, ये शोधार्थी समाज के कुछ काम आ सकेंगे? गुजराती में एक शब्द है— बेदिया ढोर। हम ऐसे ढोर न बनें, ऐसे गधे न बनें, जिसकी पीठ पर कुछ वेद रखे हैं। गांधी का वेद बहुत वजनी है। उसे निरर्थक नहीं ढोना है। वैसा करेंगे तो हमारे पैर भी लड़खड़ाएंगे और दुनिया भी हमें पूछेगी नहीं, शायद हंसेगी ही हम पर। तो गांधी विचार की शोध तो ऐसी हो जो हमें भी तारे और हमारे समाज को भी तारे। हम दोनों को वह इस प्रलय में से बचाकर ले जाए।

आज हमारे अखबार, टेलीविजन के सात दिन-चौबीस घंटे चलने वाले एक-दो नहीं सौ चैनल अमंगलकारी समाचारों से भरे पड़े हैं। तो क्या हम सचमुच ऐसे अनिष्टकारी युग से गुजर रहे हैं? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। गांधी ने हिन्द स्वराज में जैसा कहा था यह ठीक वैसा ही है— यह तो किनारे की मैल है। बीच की बड़ी धारा तो साफ है। समाज के उस बड़े हिस्से के बारे में गांधीजी ने सौ बरस पहले बड़े विश्वास से कहा था कि उस पर न तो अंग्रेज राज करते हैं और न आप राज कर सकेंगे। हां आज वह लगातार उपेक्षित रखे जाने पर शायद थोड़ा टूट गया है, पर अभी भी अपनी धुरी पर कायम है।

तो अपनी धुरी से न हटे समाज पर हमारी शोध कितनी है? यह हमारी कसौटी बननी चाहिए।

थोड़े पहले विद्यापीठ के वर्णन में जिन पेड़, पत्तियों का वर्णन हुआ था, उस रूपक में जड़ों का उल्लेख छूट-सा गया था। जड़ों की मजबूती से ही पूरे पेड़ की मजबूती होती है। अब विद्यापीठ की जड़ें कहां होंगी? कौन-सी होंगी? उत्तर हमें गांधीजी से ही मिल सकता है। एक ऐसे ही भाषण में, इसी विद्यापीठ में बोलते हुए उन्होंने कहा था कि “हिन्दुस्तान का हरेक घर विद्यापीठ है, माता-पिता आचार्य हैं।” यह बात अलग है कि घर ने, माता-पिता ने आज अपनी वह विशिष्ट भूमिका खो दी है। लेकिन यहां से बाहर निकल जब आप अपना नया घर बनाएं तो उसमें इस विचार की, विद्यापीठ के विचार की जड़ें जरूर पनपने दें।

मेरी पढ़ाई-लिखाई, जैसा कि मैंने शुरू में कहा था, साधारण-सी ही हुई है। अंग्रेजी का अभ्यास भी ज्यादा नहीं है। पर उस भाषा का एक शब्द मुझे बहुत छूता है, बहुत ही आकर्षक लगता है: वह शब्द है पिगमेलियन। यह

एक बड़ा विचित्र अर्थ लिए हुए है। हम जो हैं नहीं, पर कोई प्यार से कह दे कि तुम तो ये हो तो हमारा मन हमें वैसा ही बना देना चाहता है। इस शब्द को शीर्षक बनाकर अंग्रेजी के एक बहुत ही बड़े लेखक, बर्नार्ड शॉ ने एक बहुत ही सुंदर नाटक लिखा था और फिर बाद में हालीवुड ने इसी नाटक को आधार बनाकर एक बहुत ही सुंदर फिल्म भी बनाई थी। फिल्म का नाम था 'माई फेयर लेडी' और नाटक का नाम तो पिगमेलियन ही था।

विनोबा ने इसी से मिलती-जुलती एक और बहुत सुंदर बात बताई थी। हमें सभी बताते हैं कि हम दूसरों के पहाड़ जैसे दोषों को तिल की तरह छोटा बना कर देखें और अपने तिल जैसे दोषों को पहाड़ जितना बड़ा करके देखें। पर विनोबा ने कहा, यह सब तो बहुत हो गया। अब दूसरों के भी गुण देखो और दूसरों से भी आगे बढ़ अपने भी गुण देखो— इसे उन्होंने गुणदर्शन नाम दिया है।

हम अपने साथियों में गुण देखें, अपने में भी गुण देखें। जो गुण नहीं भी होंगे, उन्हें भी 'देखें' तो वे हममें धीरे-धीरे आने भी लगेंगे।

जब यह विद्यापीठ बनी थी, तब हम गुलाम थे। इसलिए कुलपति के नाते गांधीजी जो भी भाषण यहां देते थे, उसमें प्रायः सरकार से असहयोग की बात भी करते ही थे। आज हम आजाद हैं पर यह आजादी बड़ी विचित्र है। हम, हमारा समाज इस आजादी को ठीक से समझ ही नहीं पा रहा है। इसलिए आज जो ज्ञान हमने यहां अर्जित किया है, जो विशिष्ट उपाधि हमने यहां से कमाई है, उसे यहां से बाहर निकल समाज में बांटने के काम में हम लग सकें तो अच्छा होगा। तब सरकार से असहयोग था आज समाज से सहयोग का रास्ता आप बनाएं। नौकरी जरूर करें पर चाकरी इस समाज की करें। इस कठिन समय में अपने गुणदर्शन करें, उन्हें बढ़ाएं और समाज के गुणों को भी देखना प्रारंभ करें — अनगिनत गुण आपको दिखने लगेंगे।

तब समाज के हर अंग में आपको तिल-तिल गांधी दिखने लगेंगे। उन तिलों को एकत्र करते जाएं। पौराणिक किस्सा बताता है कि ब्रह्माजी ने सृष्टि की उत्तमोत्तम चीजों से तिल-तिल जमा कर तिलोत्तमा नामक एक पात्र की रचना की थी। उसी तरह आप समाज में से उत्तमोत्तम तिल एकत्र कर तिलोत्तम बनें— ऐसी हम सबकी शुभकामनाएं हैं। इन्हें स्वीकार करें।

आज के इस पुनीत अवसर पर मुझे आप सबने क्या सोचकर बुलाया होगा— मैं ठीक से जानता नहीं। यह आदरणीय नारायणभाई का, सुदर्शनभाई का, खीमानीजी का स्नेह, अतिशय उदारता ही दिखती है। जिस किसी बड़े उद्देश्य को ध्यान में रख आपने बुलाया था, मुझे मालूम है कि मैं उसे पूरा कर पाने योग्य नहीं हूँ। एक अच्छे छात्र की तरह अपने छत्र से मेरी कमियाँ, अवगुण आप सब ढंक कर रखना।

अंत में मैं एक बार फिर विनोबा के एक सुंदर कथन से आज के इस पावन प्रसंग को समेटना चाहूँगा।

विनोबा कहते हैं कि पानी तो निकलता है, बहता है समुद्र में मिलने के लिए। पर रास्ते में एक छोटा-सा गड्ढा आ जाए, मिल जाए तो वह पहले उसे भरता है। उसे भर कर आगे बढ़ सके तो ठीक नहीं तो वह उतने से ही संतोष पा लेता है। वह किसी से ऐसी शिकायत नहीं करता, कभी ऐसा नहीं सोचता कि अरे मुझे तो समुद्र तक जाने का एक महान उद्देश्य, एक महान लक्ष्य, एक महान सपना पूरा करना था। और वह महान लक्ष्य तो पूरा हो ही नहीं पाया!

तो हम बहना शुरू करें। जीवन की इस यात्रा में छोटे-छोटे गड्ढे आएंगे, खूब प्यार के साथ उन्हें भरते चलें। उसी को यहां के अच्छे शिक्षण का एक उम्दा परिणाम मानें। इतनी विनम्रता हमें यहां की शिक्षा, विद्यापीठ से मिली शिक्षा सिखा सके तो शायद हम महासागर तक जाने की शक्ति भी बटोर लेंगे।

*18, अक्टूबर दो हजार ग्यारह को गुजरात विद्यापीठ
में दिया गया दीक्षांत भाषण।*

जड़ें

कुछ शब्द ऐसे हैं कि वे हमारा पीछा ही नहीं छोड़ते। क्या-क्या नहीं किया हमने उन शब्दों से पीछा छुड़ाने के लिए। तब तो हम गुलाम थे। फिर भी हमने गुलामी की जंजीरों को तोड़ने की कोशिश के साथ ही अपने को दुनिया की चालू परिभाषा के हिसाब से आधुनिक बनाने का भी रास्ता पकड़ने के लिए परिश्रम शुरू कर दिया था। आजाद होने के बाद तो इस कोशिश में हमने पंख ही लगा दिए थे। हमने पंख खोले पर शायद आंखें मूंद लीं। हम चले तेजी से, पर हमने दिशा नहीं देखी।

अब एक लंबी उड़ान शायद पूरी हो चली है और हमें वे सब शब्द याद आने लगे हैं, जिनसे हम पीछा छुड़ा कर उड़ चले थे। अभी हम जमीन पर उतरे भी नहीं हैं लेकिन हम तड़पने लगे हैं, अपनी जड़ों को तलाशने।

यों जड़ें तलाशना, जड़ों की याद अनायास आना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन इस प्रयास और याद से पहले हमें इससे मिलते-जुलते एक शब्द की तरफ भी कुछ ध्यान देना होगा। यह शब्द है: जड़ता। जड़ों की तरफ मुड़ने से पहले हमें अपनी जड़ता की तरफ भी देखना होगा, झांकना होगा। यह जड़ता आधुनिक है। इसकी झांकी इतनी मोहक है कि इसका वजन ढोना भी हमें सरल लगने लगता है। बजाय इसे उतार फेंकने के, हम इसे और ज्यादा लाद लेते हैं अपने ऊपर।

जड़ता हटे थोड़ी भी तो पता चले कि बात सिर्फ जड़ों की नहीं है। शायद तने की है, डगालों, शाखाओं, पत्तियों तक की है। हमारा कुल जीवन, समाज यदि एक विशाल वृक्ष होता, उसका एक भाग होता, तो जड़ों से कटने का सवाल भी कहां उठता। अपनी जड़ों से कटे तने, शाखाएं, पत्तियां दो-चार दिनों में मुरझाने लगती हैं। पर हमारा आधुनिक विकसित होता जा रहा समाज तो अपनी जड़ों से कट कर इस दौर में पहले से भी ज्यादा हरा

हो चला है। कम से कम उसे तो ऐसा लगता है। और फिर वह अपने इस नए हरेपन पर इतना ज्यादा इतराता है कि अपने आज के अलावा अपने कल को, सभी चीजों को वह एकदम पिछड़ा, दकियानूसी मान लेता है। कल की यह सूची बहुत लंबी है। इसमें भाषा है, विचार है, परंपराएं हैं, पोशाक है, धर्म है, कर्म भी है।

सबसे पहले भाषा ही देखें।

भाषा में अगर हम किसी तरह की असावधानी दिखाते हैं तो हम व्यवहार में भी असावधान होने लगते हैं। भाषा की यह चर्चा हिंदी विलाप-मिलाप की नहीं है। उदाहरण देखें: हिंदी में उदार शब्द बड़े ही उदात्त अर्थ लिए हैं। शुभ शब्द है। लेकिन इस नई व्यवस्था ने इस इतने बड़े शब्द को एक बेहद घटिया काम में झोंक दिया है। इसे आर्थिक व्यवस्था से जोड़कर अंग्रेजी के अनुवाद से एक नया शब्द बनाया गया है— उदारीकरण। जब मन उदार बन रहा है, सरकार उदार बन रही है, अर्थ-व्यवस्था उदार हो चली है तब काहे का डर भाई। मन में कैसा संशय?

उदार का विपरीत है, कंजूस, कृपण, झंझटी, संकीर्ण। तो क्या इस उदारीकरण से पहले की व्यवस्था कंजूसी की थी? संकीर्णता की थी? वह दौर किनका था? वह तो सबसे अच्छे माने गए नेतृत्व का दौर था: नेहरूजी, सरदार पटेल जैसे लोगों का था।

जड़ों की तलाश को निजी स्तर पर लेने से कोई व्यावहारिक हल हाथ लगेगा नहीं। समाज के, देश के, काल के स्तर पर जब सोचेंगे तो जड़ों की चिंता हमें उदारीकरण जैसी प्रवृत्तियों की तरफ ले जाएगी। हम उनके बारे में ठीक से सोचने लगेंगे और तब हम सचमुच सच के सामने खड़े हो पाएंगे।

यदि हम ऐसा नहीं कर पाते तो पाएंगे कि जड़ों की तलाश भी जारी रहेगी और हम अपनी जड़ें खुद काटते भी रहेंगे। अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना कहावत में यह भी जोड़ा जा सकता है कि हम खुद अपनी कुल्हाड़ी की धार चमका कर, उसे और ज्यादा धारदार बनाकर, गा-बजाकर अपने पैरों पर मारते रहेंगे।

आधुनिक दौर में, अपनी जड़ों से कट कर हमने जो विकास किया, उसके बुरे नतीजे तो चारों तरफ बिखरे पड़े हैं। स्थूल अर्थों में भी और सूक्ष्म

अर्थों में भी। ढंका हुआ भूजल, खुला बहता नदियों, तालाबों का पानी और समुद्र तक बुरी तरह गंदा हो चुका है। विशाल समुद्रों में हमारी नई सभ्यता ने इतना कचरा फेंका है कि अब अंतरिक्ष से टोह लेने वाले कैमरों ने अमेरिका के नक्शे बराबर प्लास्टिक के कचरे के एक बड़े ढेर के चित्र लिए हैं। लेकिन अभी इस स्थूल और सूक्ष्म संकेतों को यहीं छोड़ वापस उदारीकरण की तरफ लौटें।

हमारे बीच जो भी नई व्यवस्था या विचार आते हैं, वे हर पंद्रह-बीस सालों में अपना मुंह किसी और दिशा में मोड़ लेते हैं। अभी कुछ ही बरस पहले तो दुनिया के किसी एक पक्ष ने हमें यह पाठ पढ़ाया कि राष्ट्रीयकरण बहुत ऊंची चीज है। हमने वह पाठ तोते की तरह पढ़ा, फिर रट लिया उसे। आगे-पीछे नहीं सोचा और देश में सब चीजों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। हमने अपने खुद के तोतों से भी नहीं पूछा कि तुम भी कोई पाठ जानते हो क्या? अपनी डाल के ऊपर बैठे तोतों की तरफ देखा तक नहीं। राष्ट्रीयकरण में ऐसा कुछ नहीं था कि उसके नीचे जो कुछ भी डाला जाएगा, वह सब ठीक हो जाएगा। खूब प्रशंसा हुई, तालियां बर्जीं। कुछ नेता एकाध चुनाव भी जीत गए होंगे।

फिर इससे काम चला नहीं। समस्याएं तो हल हुई नहीं तो फिर एक नई दिशा पकड़ ली। सरकार की सब चीजें निजी हाथों में सौंप देने का दौर आ गया। पर इसे बाजारीकरण नहीं कहा गया। नाम रखा उदारीकरण। किसी ने भी यह नहीं कहा कि यह तो उधार में लिया गया हल है। इसका यदि कोई नाम ही रखना हो तो इसे उधारीकरण कहो न।

अपनी जड़ों से कटे इस नए विकास ने बहुत से चमत्कार कर दिखाए हैं। निस्संदेह आज कुछ करोड़ हाथों में मोबाइल फोन हैं। लाखों कम्प्यूटर हैं, लोगों की टेबिलों पर और गोद में भी। अब तो हाथ में भी टेबलैट हैं। इन माध्यमों से पूरी दुनिया में तो बातें हो सकती हैं पर बगल में बैठे व्यक्ति से संवाद टूट गया है। सामाजिक कहे जाने वाला कम्प्यूटर नैटवर्क चाहे जब कुछ लाख लोगों को कुछ ही घंटों में बैंगलोर, चैन्नई, हैदराबाद से खदेड़कर उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में जाने मजबूर कर देता है। इस विकास ने महाराष्ट्र में आधुनिक सिंचाई की योजनाओं पर सबसे ज्यादा राशि खर्च की है। आज उसी महाराष्ट्र में सबसे बुरा अकाल पड़ रहा है।

इस विकास ने बहुत से लोगों को अपने ही आंगन में पराया बनाया है। यह सूची भी बहुत बड़ी है और यह संख्या भी। अपने ही आंगन में पराए बनते जा रहे लोगों की संख्या उस बहुप्रचारित मोबाइल क्रांति से कम नहीं है। अपनी जड़ों से जुड़े अनगिनत लोग विकास के नाम पर काट कर फेंक दिए गए हैं।

बलि प्रथा, नर बलि प्रथा कभी रही होगी। आज तो विकास की बलि प्रथा है। कुछ लोगों को ज्यादा लोगों के कल्याण, विकास के लिए अपनी जान देनी पड़ रही है। और जिनके लिए ये सब होता है, उनमें से न जाने कितने लोगों को आज यह नया जीवन अपनी जड़ों से इतना ज्यादा काट देता है कि उन्हें जीवन जीने की कला सीखने अपनी मंहगी नौकरियां छोड़ संतों के शिविरों में जाना पड़ता है।

एक हिस्सा गरीबी में अपनी जड़ों से कट कर विस्थापित होता है तो दूसरा भाग अपनी अमीरी का बोझा ढोते हुए लड़खड़ाता दिखता है।

ऐसी विचित्र भगदड़ में फंसा समाज अपनी जड़ों को खोज पाएगा, उनसे जुड़ पाएगा, ऐसी उम्मीद रखना बड़ा कठिन काम है। लेकिन ये शब्द हमारा पीछा आसानी से नहीं छोड़ने वाले। जड़ें शायद छूटेंगी नहीं। दबी रहेंगी मिट्टी के भीतर। ठीक हवा पानी मिलने पर वे फिर से हरी हो सकेंगी और उनमें नए पीके भी फूट सकेंगे। हमें अपने को उस क्षण के लिए बचाकर रखना होगा।

राज, समाज और पानी

गांधी विचार क्या है, उसकी बारहखड़ी में क्या-क्या आता है— यह मैं न तब जानता था न आज भी कुछ कहने लायक जान पाया हूँ। पर राजस्थान की चाकरी ने मुझे समाज की बारहखड़ी से परिचित कराया। कोई 30 बरस से इस बारहखड़ी को सीख रहा हूँ और हर रोज इसमें कुछ नया जुड़ता ही चला जा रहा है। समाज की वर्णमाला में सचमुच अनगिनत वर्ण, रंग हैं। हमारी नई शिक्षा कुछ ऐसी हो गई है कि हम समाज के उदास रंग देखते रह जाते हैं, काले रंग को, उसके दोषों को कोसते रहते हैं पर उसके उजले चमकीले रंग देख नहीं पाते।

समाज कैसे चलता है, वह अपने सारे सदस्यों को कैसे संगठित करता है, कैसे उनका शिक्षण-प्रशिक्षण करता है, उन सबका उपयोग वह कैसे कुशलता से करता है, यह सब मुझे उसके एक सदस्य की तरह देखने-समझने का मौका मिला। वह कितनी लंबी योजना बना कर काम करता है, उसे भी देखने का मौका लगा। समाज का भूतकाल, वर्तमान और भविष्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुड़ता रहे, सधता रहे, सँभला रहे और छीजने के बदले सँवरता रहे— इस सबका विराट दर्शन मुझे विशाल पसरे रेगिस्तान में, मरुप्रदेश में मिला और आज भी मिलता ही चला जा रहा है।

आज आपके सामने मैं इस विशाल मरुभूमि में फैले रेत के विशाल साम्राज्य की एक चुटकी भर रेत शायद रख पाऊँ। पर मुझे उम्मीद है कि इस जरा-सी रेत के एक-एक कण में अपने समाज की शिक्षा, उसकी शिक्षण-प्रशिक्षण परंपराओं, उसके लिए बनाए गए सुंदर अलिखित पाठ्यक्रम, इसे लागू करने वाले विशाल संगठन की, कभी भी असफल न होने वाले उसके परिणामों की झलक, चमक और ऊष्मा आपको मिलेगी।

आज जहाँ रेत का विस्तार है, वहाँ कुछ लाख साल पहले समुद्र था। खारे पानी की विशाल जलराशि। लहरों पर लहरें। धरती का, भूमि का एक बित्ता टुकड़ा भी यहाँ नहीं था, उस समय। यह विशाल समुद्र कैसे लाखों बरस पहले सूखना शुरू हुआ, फिर कैसे हजारों बरस तक सूखता ही चला गया और फिर यह कैसे सुंदर, सुनहरा मरुप्रदेश बन गया, धरती धोरां री बन गया— इसे पढ़ने-समझने में आपको भूगोल की किताबों, प्रागैतिहासिक पुस्तकों के ढेर में हजारों पन्ने पलटने पड़ सकते हैं। पर इस जटिल भौगोलिक घटना की बड़ी ही सरल समझ आपको यहाँ के समाज के मन में मिल जाएगी। वह इस सारे प्रपंच, प्रसंग को बस केवल दो शब्दों में याद रखता है- ‘पलक दरियाव’ यानी पलक झपकते ही जो दरिया, समुद्र गायब हो जाए। लाखों बरस का गुणा-भाग, भजनफल, अनगिनत शून्य वाली संख्याएं— सब कुछ अपने ब्लैक बोर्ड से उसने एक सधे शिक्षक की तरह इस्टर से मिटा कर चाक का चूरा झाड़ डाला और बस कहा ‘पलक दरियाव’।

जो समाज इतना पीछे इतनी समझदारी से झाँक सकता है वह उतना ही आगे अपने भविष्य में भी देख सकता है। वह उतनी ही सरलता, सहजता से फिर कह देता है— पलक दरियाव। यानी पलक झपकते ही यहाँ फिर कभी समुद्र आ सकता है। धरती के गरम होने, समुद्र का स्तर उठने की जो चिंता आज हम विश्व के विशाल मंचों पर देख रहे हैं, उसकी एक छोटी-सी झलक आपको इस समाज के नुक्कड़ नाटक में, नौटंकी में कभी भी, कहीं भी आज से कुछ सौ बरस पहले भी मिल सकती थी। यहाँ की भाषा में, नए शिक्षा शास्त्री शायद इसे भाषा नहीं, बोली कहेंगे तो उस बोली में समुद्र, दरियाव के लिए एक शब्द है— हाकड़ो। हाकड़ो का एक अर्थ आत्मा भी है। आज की थोड़ी-सी नई किस्म की पढ़ाई पढ़ गया समाज इस इलाके को पानी के अभाव का इलाका मानता, बताता है। पर इस इलाके की आत्मा है हाकड़ो यानी पानी।

समय की अनादि-अनंत धारा को क्षण-क्षण में देखने और सृष्टि के वि. राट विस्तार को अणु में परखने वाली इस पलक ने, इस दृष्टि ने हाकड़ो को, समुद्र को जरूर खो दिया लेकिन उसने अपनी आत्मा में, मन में हाकड़ो की विशाल जल राशि को कण-कण में, बूंदों में देख लिया। उसने अखंड

समुद्र को खंड-खंड कर अपने गाँव-गाँव, ठाँव-ठाँव फैला लिया। प्राथमिक शाला की पाठ्यपुस्तकों से लेकर देश के योजना आयोग तक के कागजों में राजस्थान की, विशेषकर इसके मरुप्रदेश की छवि एक सूखे, उजड़े और पिछड़े इलाके की है। थार रेगिस्तान का वर्णन तो कुछ ऐसा डारारवना मिलेगा कि आपका कलेजा ही सूख जाए। देश के सभी राज्यों में क्षेत्रफल के आधार पर अब यह सबसे बड़ा प्रदेश है, लेकिन वर्षा के वार्षिक औसत में यह देश के प्रदेशों में अंतिम है।

वर्षा को पुराने इंचों में नापें या नए मिलीमीटरों में, सेंटीमीटरों में, वह यहां सबसे कम गिरती है। देश की औसत वर्षा 110 सेंटीमीटर आँकी जाती है। उस हिसाब से राजस्थान का औसत लगभग आधा ही बैठता है— 60 सेंटीमीटर। लेकिन औसत बताने वाले ये आँकड़े यहाँ का कोई ठीक चित्र नहीं दे सकते। राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक यह 100 सेंटीमीटर से 15 सेंटीमीटर तक और कभी तो उससे भी कम है।

भूगोल की किताबें प्रकृति को, वर्षा को इस मरुस्थल में एक अत्यंत कंजूस महाजन की तरह देखती हैं और इस इलाके को उसके शोषण का दयनीय शिकार बताती हैं। राज्य के पूर्वी भाग से पश्चिमी भाग तक आते-आते वर्षा कम से कम होती जाती है। ठेठ पश्चिम यानी बाड़मेर, जैसलमेर तक जाते-जाते तो वह सूरज की तरह डूबने ही लगती है। जैसलमेर में वर्षा का सालाना आंकड़ा 15 सेंटीमीटर है। पर खुद जैसलमेर की गिनती देश के सबसे बड़े जिले के रूप में की जाती है। इसमें भी पूर्व और पश्चिम है। जैसलमेर का पश्चिमी भाग, पाकिस्तान से सटा हिस्सा तो कुछ ऐसा है कि मानसून के बादल यहां तक आते-आते थक ही जाते हैं और कभी बस 7 सेंटीमीटर तो कभी 3-4 सेंटीमीटर पानी की हल्की-सी बौछार कर विशाल नीले आकाश में एक मुट्ठी रुई के टुकड़े की तरह गायब हो जाते हैं। इसकी तुलना गोवा से, कोंकण से या फिर पाठ्यपुस्तकों से ही उभरे एक और स्थान चेरापूजी से करें तो यहाँ आंकड़ा 1000 सेंटीमीटर भी पार कर जाता है।

मरुभूमि में वर्षा नहीं, सूरज बरसता है। औसत तापमान 50 डिग्री पर रहता है। तो पानी, वर्षा बहुत ही कम और सूरज खूब ज्यादा— ये दो बातें जहाँ एक हो जाएँ वहाँ आज की पढ़ाई तो हमें यही बताती है कि जीवन दूभर

हो जाता है। इसमें एक तीसरी चीज और जोड़ लें- यहाँ ज्यादातर हिस्सों में पाताल पानी, भूजल खारा है। पीने लायक नहीं है।

जीवन को बहुत ही कठिन बनाने वाले इन तीन बिंदुओं से घिरा यह रेगिस्तान दुनिया के अन्य रेगिस्तानी इलाकों की तुलना में बहुत ही अलग है। यहाँ उनके मुकाबले ज्यादा बसावट है और उस बसावट में सुगंध भी है।

इस सुगंध का क्या रहस्य है। रहस्य है यहाँ के समाज में। मरुप्रदेश के समाज ने प्रकृति से मिलने वाले इतने कम पानी का, वर्षा का कभी रोना नहीं रोया। उसने इस सबको एक चुनौती की तरह लिया और अपने को ऊपर से नीचे तक इतना संगठित किया, कुछ इस ढंग से खड़ा किया कि पानी का स्वभाव पूरे समाज के स्वभाव में बहुत ही सरल और तरल ढंग से बहने लगा। 'साईं इतना दीजिए, जामे कुटुंब समाय' के बदले उसने कहा होगा 'साईं जितना दीजिए, वामे कुटुंब समाय।' इतने कम पानी में उसने इतना ठीक प्रबंध कर दिखाया कि वह भी प्यासा न रहे और साधु तो क्या असाधु को भी पानी मिल जाए।

पानी का काम यहाँ भाग्य भी है और कर्तव्य भी। वह सचमुच भाग्य ही तो था कि महाभारत युद्ध समाप्त होने के बाद श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र (हरियाणा) से अर्जुन को साथ लेकर वापस द्वारिका इसी मरुप्रदेश के रास्ते लौटे थे। यह विचित्र किस्सा बताता है कि उनका शानदार रथ जैसलमेर से गुजर रहा था। जैसलमेर के पास त्रिकूट पर्वत पर उन्हें उत्तुंग ऋषि तपस्या करते मिले। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया। फिर उनके तप से प्रसन्न होकर उन्होंने ऋषि से वर माँगने को कहा था। उत्तुंग का अर्थ है ऊँचा। ये ऋषि सचमुच ऊँचे निकले। उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं माँगा। प्रभू से प्रार्थना की कि यदि मेरे कुछ पुण्य हैं तो भगवान वर दें कि इस मरुभूमि पर कभी जल का अकाल न रहे।

'तथास्तु', भगवान ने वरदान दे दिया था। कोई और समाज होता तो इस वरदान के बाद हाथ पर हाथ रख बैठ जाता। सोचता, कहता कि लो भगवान कृष्ण ने वरदान दे दिया है कि यहाँ पानी का अकाल नहीं पड़ेगा तो अब हमें क्या चिंता, हम काहे को कुछ करें। अब तो वही सब कुछ करेगा।

लेकिन मरुभूमि का भाग्यवान समाज मरुनायक (श्रीकृष्ण को मरुनायक भी कहा जाता है।) से वरदान पाकर हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठा। उसने

अपने को पानी के मामले में तरह-तरह से कसा। गाँव-गाँव, ठाँव-ठाँव, वर्षा को रोक लेने की, सहेज लेने की एक से एक सुंदर रीतियाँ खोजीं।

रीति के लिए यहाँ एक पुराना शब्द है वोज। वोज यानी रचना, मुक्ति और उपाय भी। इस वोज के अर्थ में विस्तार भी होता जाता है। हम पाते हैं कि पुराने प्रयोगों में वोज का उपयोग सामर्थ्य, विवेक और फिर विनम्रता के अर्थ में भी होता था। वर्षा की बूँदों को सहेज लेने का वोज यानी विवेक भी रहा और उसके साथ ही पूरी विनम्रता भी।

इसीलिए यहाँ समाज ने वर्षा को इंचों या सेंटीमीटरों में नहीं नापा। उसने तो उसे बूँदों में मापा होगा। पानी कम गिरता है? जी नहीं। पानी तो करोड़ों बूँदों में गिरता है। फिर ये बूँदें भी मामूली नहीं। उसने इन्हें 'रजत बूँदें' कहा। उसी ढंग से इनको देखा और समझा। अपनी इस अद्भुत समझ से, वोज से उसने इन रजत बूँदों को सहेजने की एक ऐसी भव्य परंपरा बना ली जिसकी धवल धारा इतिहास से निकल कर वर्तमान में तो बह ही रही है, वह भविष्य में भी बहेगी।

इतिहास, वर्तमान और भविष्य का ध्यान रखना, आज विज्ञान, पर्यावरण आदि के क्षेत्र में विकास की नई शब्दावली में एक आदर्श की तरह देखा जाता है। धरती के संसाधनों का उपयोग वर्तमान पीढ़ी किस संतुलन से करे कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी साफ हवा, पानी, जमीन, खेती, खनिज और शायद पेट्रोल भी उसी तरह मिले— जैसे आज मिलता है— ऐसी बात करने, कहने वाले बड़े पर्यावरणविद् कहलाते हैं। ऐसी बात तो यहाँ गाँव-गाँव में न जाने कब से न सिर्फ कही गई, उस पर लोगों ने अमल की भी लंबी परंपरा डाल कर दिखाई है।

जमीन पर इस आदर्श के अमल की बात बाद में। अभी तो थोड़ा ऊपर उठ आसमान छूकर देखें। बादल यहाँ सबसे कम आते हैं। पर बादलों के नाम यहाँ सबसे ज्यादा मिलते हैं। खड़ी बोली, और फिर संस्कृत से बरसे बादलों के नाम तो हैं ही पर यहाँ की बोली में तो जैसे इन नामों की घटा ही छा जाती है, झड़ी ही लग जाती है। और फिर आपके सामने कोई 40 नाम बादलों के, पर्यायवाची नहीं, 40 पक्के नामों की सूची भी बन सकती है। रुकिए, बड़ी सावधानी से बनाई गई इस सूची में कहीं भी, कभी भी कोई ग्वाला, चरवाहा चाहे जब दो-चार नाम और जोड़ दे यह भी हो सकता है!

भाषा की और उसके साथ-साथ इस समाज की वर्षा संबंधित अनुभव-सम्पन्नता इन चालीस, बयालीस नामों में चुक नहीं जाती। वह इन बादलों के प्रकार, आकार, चाल-ढाल, स्वभाव, ईमानदारी, बेईमानी— सभी आधारों पर और आगे के वर्गीकरण करते चलता है। इनमें छितराए हुए बादलों के झुंड में से कुछ अलग-थलग पड़ गया एक छोटा-सा बादल भी उपेक्षा का पात्र नहीं है। उसका भी एक अलग नाम आपको मिल जाएगा— चूखो! मरुभूमि में सबसे दुर्लभ और कठिन काम, वर्षा कर चुके बादल, यानी अपना कर्तव्य पूरा करने के बाद किसी छोटी-सी पहाड़ी या रेत के टीले पर थोड़ा-सा टिक कर आराम फरमा रहे बादल को भी समाज पूरी कृतज्ञता से एक अलग नाम देता है: रींछी।

हमारा हिन्दी और शायद अंग्रेजी का संसार बरसने वाले पानी की मात्रा को दो रूपों में ही देख पाता है। एक है— सतह का पानी और दूसरा है भूजल। नदी, नालों, तालाबों छोटी-बड़ी झीलों का पानी सतह पर है और फिर इससे रिस कर नीचे जमीन में उतरा पानी भूजल है। पर मरुभूमि के समाज ने अपने आसपास से, अपने पर्यावरण से, भूगोल से जो बुनियादी तालीम पाई थी, उसने उस आधार पर पानी का एक और प्रकार खोज निकाला। उसका नाम है— रेजाणी या रेजवानी पानी।

रेजाणी पानी हम पढ़े-लिखे माने गए लोगों को आसानी से नहीं दिखने वाला। हम उसका स्पर्श भी ठीक से नहीं कर पाएँ शायद। पर यह वहाँ की बुनियादी तालीम ही है, जिसने उस समाज को रेजाणी पानी का न सिर्फ दर्शन करवाया, उसे एकदम कठिन इलाके में, चारों तरफ खारे पानी से घिरे इलाके में अमृत जैसा पीने योग्य बना लेने की जटिल तकनीक भी दे दी।

पर जटिल तकनीक, जटिल ज्ञान किस काम का? समाज ने उसे बहुत ही सरल बना कर गाँव-गाँव में फेंक दिया। उसकी चर्चा शायद बाद में करें। अभी तो पहले हम यह देखें कि खारे पानी से घिरे, कम पानी के बीच बसे हजारों गाँवों, कस्बों और शहरों में पानी का काम कैसे फैलाया गया।

ऐसा काम आज करना हो तो हम प्रायः क्या करते हैं? एक बड़ी संस्था बनाते हैं। उसका मुख्यालय खोजते हैं। फिर शाखाएँ, केंद्र, उपकेंद्र बनाते हैं। अध्यक्ष चुनते हैं, कार्यकारिणी, संचालक मंडल बनाते हैं। सैकड़ों कार्यकर्ताओं की भरती करते हैं। इस विशाल ढाँचे को चलाने के लिए बड़ा बजट जुटाते

हैं। कुछ शासकीय स्रोत पर चलते हैं तो कुछ शासन को अछूत मान कर देशी स्रोतों से धन लाते हैं तो कुछ विदेशी अनुदान से भी परहेज नहीं करते। इतने सबके बाद काम हो जाए, जिस उद्देश्य से संस्था बनाई है, संगठन खड़ा किया है, वह हो जाए तो क्या कहना। पर कई बार यही नहीं हो पाता। बाकी सब कुछ होता रहता है, हड़ताल, तालाबंदी तक होती रहती है। इतना ही नहीं कभी-कभी हमारे ये सुंदर संगठन अच्छे ही लोगों के आपसी छोटे-मोटे मतभेदों के कारण टूट जाते हैं, बिखर जाते हैं।

पर मरुभूमि का समाज ऐसा खतरा मोल ले ही नहीं सकता था। उसे तो सबसे कम पानी के इलाके में सबसे चुस्त, दुरुस्त संगठन न सिर्फ खड़ा करना था, उससे सौ टका काम भी निकालना था। इसलिए उसने खूब बड़ा संगठन बनाया, उसका आकार इतना बड़ा किया कि वह निराकार हो गया। निराकार एकदम दुनिया के चालू अर्थ में भी और ठीक आध्यात्मिक अर्थ में भी।

ऐसे अद्भुत निराकार संगठन को उसने न तो राज को सौंपा और न आज की नई भाषा में किसी सार्वजनिक क्षेत्र या निजी क्षेत्र को सौंपा। उसने तो इसे पुरानी भाषा के निजी हाथों में एक धरोहर की तरह प्यार, दुलार से रख दिया। घर-घर, गाँव-गाँव सब लोगों ने इस ढाँचे को बोझ की तरह नहीं, पूरी कृतज्ञता से सिर माथे पर उठाकर उसके निराकार को साकार कर दिया। पूरा समाज अपना वर्ण, वर्ग, प्रतिष्ठा, परिवार, सब कुछ भुलाकर, सब कुछ मिटाकर, सब कुछ अर्पण कर पानी के इस काम में जुट गया। पानी के काम की इस विचित्र बुनियादी तालीम पर जो सुंदर इमारत खड़ी हुई है, जो ढाँचा बना है, वह निराकार है। इसलिए हमारे इस नए समाज ने उसे निर्गुण, और भी स्पष्ट कहें तो बिना गुण वाला और भी साफ कहें तो अनेक दोषों वाला समाज मान कर अपने संसार से हटा ही दिया है।

लेकिन यह ढाँचा निराकार होते हुए भी बहुत ही गुनी है, सगुण है। यह जप करने लायक है। यह लोक शिक्षण की अद्भुत शाला है। लोक बुद्धि की इसमें पूरी ऊँचाई दिखेगी और लोक संग्रह की एक सतत चलने वाली महान गाथा भी।

हम सबने एक लंबे समय से लोक शक्ति की खूब बात की है। साम्यवाद से लेकर सर्वोदय तक ने लोक शक्ति की खूब उपासना की है। लेकिन हमने लोक बुद्धि को पहचाना नहीं इस दौर में। गांधीजी के एक अनन्य साथी

दादा धर्माधिकारी निरुपाधिक मानव की प्रतिष्ठा पर बहुत बल देते थे। उस निरुपाधिक मानव की प्रतिष्ठा आपको यहाँ के पानी के काम में दिखेगी। इस लोक बुद्धि को हम देखने, समझने लगे तो हमें शायद फिर राजस्थान या मरुप्रदेश की अलग से बात करने की जरूरत नहीं बचेगी। हम जहाँ हैं, वहाँ उसका दर्शन होने लगेगा। तब शायद हम आपको यह भी पता चलेगा कि इस देश की वर्तमान, परंपरागत नहीं, वर्तमान तकनीकी शिक्षा की नींव में भी अनपढ़ कहलाने वाले समाज का ही प्रमुख योगदान रहा है। इसीलिए हमारे एक छोटे-से कस्बे में, (किसी बड़े शहर में नहीं) देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज खुला था। और उसमें प्रवेश पाने के लिए स्कूल की पढ़ाई की भी कोई जरूरत नहीं थी, अंग्रेजी के ज्ञान की भी नहीं। यह हमारे देश का पहला नहीं, एशिया का भी पहला इंजीनियरिंग कॉलेज था। वह पूरा किस्सा बहुत-सी नई बातें बताता है। पर वह अपने-आप में एक लंबा प्रसंग है। उसकी तरफ इतना संकेत कर उसे यहीं छोड़ आगे बढ़ें।

महात्मा गांधी की स्मृति में एकत्र होते हुए हम इससे बेहतर और क्या कर सकते हैं कि पिछले दौर में हमने लोक बुद्धि को समझने, उसको प्रतिष्ठित करने का जो सहज रास्ता छोड़ दिया था, उस पर वापस लौटने की कोशिश करें। उन बातों को, उन तरीकों को, संगठनों को विस्मृत करना प्रारंभ हो, जो लोक बुद्धि के रास्ते जाते नहीं। हमारे बहुत से काम-काज, क्रिया-कलाप, अक्सर अच्छी नियत से भी की गई चिंताएं, बनाई गई योजनाएं बहुत हुआ तो समाज के एक बड़े भाग को 'हितग्राही' ही मानकर, हितग्राही बताकर चलती हैं। हम उनका कुछ उद्धार करने आए हैं, उपकार करने आए हैं— इससे थोड़ा बचें।

कई बार हम इस लोक, जन, जनता वाली शब्दावली में ऐसे फँस जाते हैं कि फिर हम विज्ञान में भी जन विज्ञान, लोक विज्ञान की बात तो करते हैं पर प्रायः लोक विमुख खर्चीले विज्ञान का कोई सस्ता संस्करण ही उस नाम से खोज लाते हैं। लेकिन वह भी समाज में वैसा उतर नहीं पाता जैसा हम चाहते हैं। तब हम उदास, निराश भी होते हैं। अपनी असफलता के लिए उसी समाज को कोसने लगते हैं जिसे हम बदलने, सुधारने निकल पड़े थे। उसने हमारी सुनी नहीं, ऐसा हमें लगने लगता है।

जसढोल यहाँ एक सुंदर शब्द है। जस यानी यश का ढोल। मरुप्रदेश में पानी के काम के बहाने एक जसढोल न जाने कितने सैकड़ों वर्षों से जोर-जोर

से बज रहा था, पर हमने, हमारे इस नए समाज ने उसकी थाप, उसका संगीत सुना ही नहीं। आज उसकी स्वर लहरी, उसकी लय, थाप का कुछ अंश आप तक पहुंचाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

शिक्षण, प्रशिक्षण आदि सभी प्रयासों में अक्षर का महत्त्व माना ही जाता है। यहाँ पानी का जो विशाल काम फैलाया गया, उसमें अक्षर ज्ञान को एकदम किनारे रख दिया गया। उससे परहेज नहीं पर जीवन ज्ञान और जीवन शिक्षा के क्षेत्र में उसकी अनिवार्यता नहीं स्वीकार की गई। अक्षर ज्ञान का यहाँ एक और अर्थ लगाया गया— क्षर, नष्ट न होने वाला ज्ञान।

उनकी इस परिभाषा से देखें बस दो उदाहरण। इनमें से एक का जिक्र पहले आया है पर अधूरा। खारे पानी के बीच अमृत जैसा मीठा पानी देने की एक पद्धति की तरफ कुछ संकेत किया था। रेगिस्तान में कुछ खास हिस्सों में प्रकृति ने रेत की विशाल राशि के नीचे एक आड़ी-तिरछी पट्टी भी चला रखी है। यह मेट या जिप्सम से बनी है। इस क्षेत्र में कोई 200-300 फुट की गहराई पर खूब पानी है, पर है पूर्णरूप से खारा। पीने के काम का नहीं। लेकिन इस जिप्सम के कारण ऊपर गिरने वाली थोड़ी-सी भी बरसात रेत में धीरे-धीरे छनकर इस पट्टी पर टकरा कर अटक जाती है और एक विशाल भाग में सतह से, भूमि से नीचे जिप्सम तक नमी की तरह फैल जाती है।

मरुप्रदेश का निरक्षर माना गया, अनपढ़ बताया गया समाज आज से कोई हजार बरस पहले रेत के टीलों, रेत के समुद्र में कोई 10 से 100 फुट नीचे चल रही इस पट्टी को चिह्नित कर चुका था। केवल चिह्नित ही नहीं, उसने उसका शानदार उपयोग भी खोज निकाला। उसने इस जिप्सम की पट्टी के कारण रेत में छिपी नमी को सचमुच निचोड़ कर मीठा पानी निकाल लेने का एक बेहद पेंचीदा, जटिल इंतजाम कर लिया था। इन इलाकों में हमारी आने-जाने वाली सभी तरह की सरकारों ने ट्यूबवैल, हैंडपंप आदि लगवाकर इन गाँवों को पानी देने का काम जरूर किया था, पर यह तो खारा ही था।

बेहद पढ़े-लिखे, विकसित जर्मनी के इलाके से बुलाई गई एक नई खर्चीली तकनीक से इन नए यंत्रों से निकल रहे खारे पानी को मीठा बनाने की कोशिश की गई। इस उठापटक के 5-7 वर्षों में गाँवों ने अपनी पद्धति को छोड़ भी दिया था। पर जब पानी का खारापन खत्म नहीं हुआ, बल्कि इतना बढ़ गया कि गाय, बकरियों तक ने उसे पीना छोड़ दिया तो इन इलाकों में अब फिर

धीरे-धीरे कुई बनाने, टूटी-फूटी छोड़ दी गई कुईयों को फिर से ठीक करने और अपने दम पर फिर से मीठा पानी पाने का इंतजाम वापस लौटने लगा है। गाय, बकरी, भेड़ों द्वारा पीने से मना किया गया पानी देने को ही विकास का, आधुनिकता का प्रतीक मानने वाली कोई तीन-चार सरकारें इस बीच राज्य में आईं और वापस भी लौट चुकी हैं। शिक्षा के आंदोलन भी गैर-सरकारी स्तर पर यहाँ चले हैं और अनेक समाजसेवी संस्थाओं ने भी जल चेतना का नारा लगाया है। पर कुई की वापसी गाँव के दम पर ही हुई है और एक बार फिर इस अक्षर ज्ञान ने, क्षरण न हो सकने वाले ज्ञान ने, शिक्षण ने, उस निराकार संगठन ने खारे पानी के बीच मीठा पानी जुटाया है।

दूसरा बिलकुल विलक्षण उदाहरण जैसलमेर क्षेत्र में एक विशेष तरह की खेती से जुड़ा है। यह भी मेट यानी जिप्सम की पट्टी से ही जुड़ा अद्भुत विज्ञान है। कहीं-कहीं यह पट्टी जमीन की सतह के आसपास बहुत ही कम गहराई पर ऊपर उठ आती है। तब इसमें रेत में छिपी नमी इतनी नहीं होती कि वह अच्छी मात्रा में मीठा शुद्ध पानी दे सके। तो क्या समाज इसे ऐसे ही छोड़ दे? नहीं। अनपढ़ माने गए समाज ने इस तरह के भूखंडों पर आज से कोई 600 बरस पहले एक प्रयोग किया और मात्र 3 इंच की वर्षा में गेहूँ, चना जैसी रबी की फसल उगाने का नायाब तरीका खोज निकाला। किसी भी आधुनिक कृषि पंडित, विशेषज्ञ से पूछें कि क्या 3 इंच बरसात में गेहूँ पैदा हो सकता है? वह इस प्रश्न का उत्तर देने के बदले पूछने वाले को पागल ही मानेगा।

ऐसे विशिष्ट भूखंडों पर समाज ने एक विशेष तरह की मेंड़बंदी कर इस जरा-सी वर्षा को जिप्सम तक अटका कर खडीन नामक कीमती खेत का आविष्कार किया। उसने इस खेत में कृषि के अविश्वसनीय काम तो किए ही, इसमें उसने समाज शास्त्र के, आपसी सद्भाव के, समभाव के, शोषण मुक्त समाज के, स्वामित्व विसर्जन के, यानी मिल्लिकयत मिटाने के भी शानदार सबक सीखे भी और सिखाए भी। आज सामूहिक खेती के जो प्रयोग दुनिया में भारी भरकम क्रांतियों के बाद, हजारों लोगों को मारने के बाद भी सफल नहीं हो पाए, उन्हें यहाँ के विनम्र, मौन, शांत समाज ने अपने खडीन पर चुपचाप कर दिखाया है।

प्रायः अकाल से घिरे इन गाँवों में बरसात ठीक हो जाए तो एक फसल होती है। बरसात न हो तो वह भी हाथ से जाती है। पर खडीन में दो फसलें

ली जा सकती हैं। खरीफ भी, रबी भी। हमारे पढ़े-लिखे समाज को लगेगा कि ऐसा विशिष्ट खेत तो उस क्षेत्र के, गाँव के सवर्ण ठाकुर, बलवान, सामाजिक पहलवान के कब्जे में ही रहता होगा।

ऐसा नहीं है। यह एक बहुत ही संवेदनशील जटिल सामाजिक ढाँचे पर टिकाया गया है। गाँव में यदि प्रकृति की दया से खडीन जैसा खेत है तो फिर वह गाँव के सब घरों का खेत है। सबके सब उसके मालिक हैं। या कहेँ कि उसका कोई भी मालिक नहीं होता। लास नामक एक उन्नत सामाजिक प्रथा से इस खेत का सारा काम चलता है। लास शायद संस्कृत के उल्हास से बना है। इसमें सब मिलकर काम करते हैं। यह श्रमदान से भी कहीं ऊँची चीज है। इसमें सारे काम को उल्हास से, आनंद से जोड़ा गया है। लास के अपने गीत होते हैं और वे टी.वी., कैसेट, एफ.एम., मोबाइल के इस दौर में भी गायब नहीं हुए हैं।

गाँव के सारे घर मिलकर काम करते हैं, सब के सब। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। खेत तैयार करने से लेकर बुवाई, निंदाई, गुड़ाई, फसल काटने तक में पूरा का पूरा गाँव एक साथ जुटता है। फसल कटने पर उसके उतने ही हिस्से होते हैं और हर ढेर घर पहुँच जाता है। कोई बीमार, अशक्य, वृद्ध, महिला हो, पुरुष हो, उसे हर काम से अलग रखा जाता है। पर प्रायः ऐसे सदस्य भी खडीन के किनारे किसी बबूल या खेजड़ी या जाल पेड़ की छाँव में बैठने आ ही जाते हैं। गाते हैं, बच्चों को सँभाल लेते हैं। अपंग और कोई नेत्रहीन भी है, तो भी वह लास खेलने के लिए इस उत्सव को गँवाना नहीं चाहता। सबकी मेहनत, सबका हिस्सा। वर्ण-सवर्ण-दलित का यहाँ कोई भी पाठ नहीं पढ़ा जाता। सब मालिक, सब मजदूर, सब उत्पादक, सब उपभोक्ता, सब शिक्षक, सब शिष्य भी— बस यही पाठ खडीन में पढ़ाया जाता रहा है।

जीवन की शिक्षा का, समाज की शिक्षा का, जीवन जीने की कला का ऐसा सुंदर पाठ हम पढ़े-लिखों ने ठीक से जाना तक नहीं है। मरुभूमि में अनेक सामाजिक आंदोलन, शिक्षा के आंदोलन इस सुंदर खडीन की पाठशाला से बिना टकराए निकल गए हैं।

पानी के बहाने इस समाज ने शिक्षण के सचमुच कुछ विस्मरणीय प्रयोग किए हैं। ये दो-पाँच बरस चलने वाले प्रयोग नहीं हैं। पंचवर्षीय योजनाओं

जैसे नहीं हैं। ये तो पाँच सौ बरस की लंबी उमर सोचकर बनाए गए हैं। आधुनिकता की आँधी, समाज से कटी शिक्षा, जीवन शिक्षा के इन प्रयोगों को पूरी तरह से उखाड़ नहीं पाई है।

पिछले वर्ष इसी प्रतिष्ठित व्याख्यान में इंग्लैंड से आए दार्शनिक श्री क्रिस्टोफर विंच ने अपने भाषण के अंत में कहा था, “गाँधी आज होते तो देश के तेजी से हो रहे ऐसे आर्थिक विकास के कई पहलुओं से वे खुश नहीं होते। वे तो नागरिक को उत्पादक की केंद्रीय भूमिका में रखना चाहते थे। यह वह भूमिका है जो उसकी मानवता और सच कहें तो उसकी आध्यात्मिकता के महत्त्वपूर्ण भाग को निखारती है।”

हमारे अनपढ़ माने गए समाज ने गाँधीजी की इस बात का खूब ध्यान रखा और नागरिक को उपभोक्ता से पहले आदर्श उत्पादक ही बनाने की पाठशाला खोली थी।

*राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में
जनवरी दो हजार नौ को दिया गया गाँधी स्मृति व्याख्यान।*

नर्मदा घाटी: सचमुच कुछ घटिया विचार

हत्या से कुछ दिन पहले नर्मदा सागर बांध का शिलान्यास करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था कि वे इन बड़े बांधों के पक्ष में नहीं हैं, पर विशेषज्ञ उन्हें बताते हैं कि इनके बिना काम चलेगा नहीं। लेकिन अब कुछ विशेषज्ञ ही नेताओं, अखबारों और लोगों को बताने लगे हैं कि इन बड़े बांधों के बिना काम ज्यादा अच्छा चलेगा। मध्यप्रदेश शासन में सिंचाई सचिव रह चुके एक प्रशासक ने पिछले दिनों प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखकर नर्मदा घाटी में बन रहे बड़े बांधों—सरदार सरोवर (गुजरात) और नर्मदा सागर (मध्यप्रदेश) की ओछी योजनाओं का ब्योरा दिया है और बताया है कि इन बांधों से होने वाले लाभ का जो दावा किया है वह पूरा होगा नहीं, इनके कारण उजड़ने वाले लोगों से जो वादा किया है वह निभाया नहीं जा सकेगा और कुल मिलाकर नुकसान इतना ज्यादा होगा कि 21वीं सदी के विकास के लिए तैयार की जा रही नर्मदा घाटी कहीं बीस हजार साल पीछे न ठेल दी जाए।

गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और एक हद तक राजस्थान के विकास के लिए बन रहे ये भीमकाय बांध एक किस्म से अश्वमेध यज्ञ के घोड़े हैं। इनकी लगाम छूने तक का दुस्साहस किसी ने किया नहीं था। लेकिन यज्ञ को लेकर तीनों राज्यों के नेताओं और विशेषज्ञों में भारी मतभेद थे: इस बहस में कौन कितनी आहुति देगा और उसके लाभ का बंटवारा किस अनुपात में मिलेगा, 33 बरस बीत गए। सन् 1946 में शुरू हुई बहस में तीनों राज्यों के नेताओं और विशेषज्ञों की दो पीढ़ियां बदल गईं पर प्रकृति को आर्थिक तराजू पर नकली बांट रख कर तौलने की नज़र नहीं बदली। इनकी तीसरी पीढ़ी को भी यही लगता रहा कि कमबख्त नर्मदा हमसे बिना पूछे 3454 अरब घन मीटर पानी खंबात की खाड़ी में बहा ले जा रही है। इस पर बड़े-बड़े बांध बना लें तो 2500 से 3300 मेगावाट बिजली मिल जाएगी और कोई 23 लाख हैक्टेयर

में सिंचाई हो जाएगी। लेकिन इतने लाभकारी यज्ञ की कीमत बहुत थी। यहां डूबने वाली कीमती सवा लाख हैक्टेयर ज़मीन और वन तथा कोई डेढ़ लाख लोगों की बात नहीं हो रही। कीमत यानी वह रुपया जो इस सपने को आकार देता। उन दिनों के सस्ते ज़माने में भी यह कीमत 600 से 1000 करोड़ रुपया थी जो आज शायद 3800 करोड़ रुपये के आसपास झूल रही है। झगड़ रहे तीनों राज्यों में से किसी की भी जेब में इतना रुपया नहीं था कि वे अपने दम पर या केंद्र की मदद से ये बांध बना पाते। बहुत कम लोगों को याद होगा कि 1967 में मध्यप्रदेश के 31 संसद सदस्यों ने इंदिरा गांधी से नर्मदा घाटी योजना को भारत-सोवियत व्यापार में शामिल करने का आग्रह भी किया था।

सबसे विवादास्पद बांध सरदार सरोवर (गुजरात) को लेकर सन् 67 से 1974 तक मध्यप्रदेश और गुजरात सरकार के बीच जो ऊलजलूल बयानबाज़ी और झगड़े हुए वे अपने आप में एक छोटे-मोटे महाभारत की याद दिलाते हैं। 1969 में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्यामाचरण शुक्ल ने ज़ोर-शोर से कहा था कि गुजरात में नर्मदा पर बनने वाले बांध से मध्यप्रदेश की एक इंच ज़मीन भी डूब में नहीं आएगी। (बाद में यह आंकड़ा एक इंच से बढ़कर 27 हज़ार एकड़ उम्दा कृषि में बदला गया) इसी दौरान गुजरात और मध्यप्रदेश में अपने-अपने बांधों की ऊंचाई बढ़ाकर अधिक बिजली बना लेने की जैसे होड़ लग गई। केवल बिजली का बहाना थोड़ा शर्मनाक लग सकता था, इसलिए दोनों राज्यों ने अपने-अपने किसानों के 'हितों' को भी बढ़ाना शुरू कर दिया। पर इन दोनों बांधों की ऊंचाई जितनी बढ़ती, उतनी अधिक कीमती ज़मीन और वन भी उनकी डूब में आते, इसलिए बांधों की ऊंचाई का सारा विवाद नीचता की हद तक उतरता गया। लगता है कुछ पुण्याई कमाने के ख़्याल से ही उस समय यह भी जोड़ दिया गया कि अगर बांध ऊंचा बना तो उसमें एक लंबी नहर निकाल कर राजस्थान जैसे 'प्यासे' राज्य को भी कुछ पानी दे दिया जाएगा।

तीन राज्यों के मुख्यमंत्री और उनके अधिकारी व इंजीनियर आखिर कब तक झगड़ते। सन् 73 में सारा विवाद इंदिरा गांधी को सौंपा गया। वे हाथ जो इस देश की सारी समस्याओं का हल खोजने के लिए लगातार मज़बूत किए जाते रहे, नर्मदा के मामले में बेहद कमज़ोर साबित हुए। इंदिरा गांधी हल नहीं खोज सकीं तो उन्होंने इस विवाद को सन् 74 में एक पंचाट को सौंप दिया। यहां कुछ पुरानी बातें एक बार फिर दोहरा लें। सन् 74 से बहुत दूर

नहीं था सन् 75 की जून में लगा आपात्काल। सारे झगड़े समाप्त हो गए। पंचाट चुपचाप काम करती रही।

आपात्काल हटा और केंद्र तथा इन राज्यों में आई जनता पार्टी सरकार। और कुछ ही समय बाद सन् 79 में पंचाट ने अपना फैसला दिया। सबसे विवादास्पद बांध सरदार सरोवर की ऊंचाई उसने 455 फुट तय की। तब मध्यप्रदेश में विपक्ष की बेंच पर बैठी इंदिरा कांग्रेस उछलकर इन बांधों पर टूट पड़ी। पूरे फैसले को राज्य के लिए अभिशाप बताया गया। पर जनता सरकार चली ही कितने दिन। सन् 80 में वापस शासन में आते ही इंदिरा सरकार ने अब तक के अभिशाप को वरदान की तरह स्वीकार किया और पंचाट के जो पंच उसे विपक्ष की कुर्सी से कपटी दिख रहे थे, वे फिर परमेश्वर दिखने लगे।

अब इसे भगवान की ही कृपा मानना होगा कि सन् 80 से अब तक नर्मदा-विवाद के राज्यों में और केंद्र में इंदिरा कांग्रेस है, और साथ ही यह भी कि इन सभी जगहों में विरोधी दल बेहद सिकुड़ा हुआ है तथा सबसे बड़े महाजन विश्व बैंक ने इसके लिए पैसा देना मंजूर किया है।

तीन राज्यों से गुजरने वाली 1312 किलोमीटर लंबी नर्मदा नदी की घाटी के 'पिछड़ेपन' को दूर करने के लिए कुछ उच्च विचार हों, इन्हें अमल में उतारने की महंगी योजनाओं का खर्च जुटाने के लिए विश्व बैंक जैसा उदार महाजन हो, सारे 'टुच्चे' विवादों को निपटा चुका पंच परमेश्वर हो तो भला देरी किस बात की? भीमकाय बांधों को बांधने के लिए टेंडर खुल चुके हैं।

लेकिन इस बीच कुछ 'घटिया विचार' भी सामने आने लगे हैं। बहस चल पड़ी है, इन बड़े बांधों के नुकसानों, पर्यावरण पर इनके असर और इनसे उजड़ने वाले हज़ारों लोगों के भविष्य को लेकर। अब तक एक सांस में गिनाए जाते रहे इनके लाभों पर भी कई विशेषज्ञों ने, संस्थाओं ने प्रश्न चिन्ह लगाना शुरू कर दिया है। पंचाट के फैसले के तुरंत बाद पहले कांग्रेस और फिर भाजपा द्वारा चलाए गए 'निमाड़ बचाओ आंदोलन' के क्षणिक उफान का अपवाद छोड़ दें तो सन् 80 से 85 तक नर्मदा घाटी में छाया सत्राटा लगता है टूट रहा है। मध्यप्रदेश के जो अखबार पंचाट के फैसले के बाद बेहद कट्टर बनकर इन बड़े बांधों का पूरा समर्थन कर रहे थे और जिस कारण उनकी प्रतियां— इन बांधों की डूब में आने वाले, क़स्बों, गांवों में जलाई गई थीं— वे अखबार आज कह रहे हैं कि पंचाट के फैसले में इन बांधों के पक्ष में कई मुद्दों पर

सविस्तार स्पष्ट मत व्यक्त किए गए थे, लेकिन पर्यावरण का जो नया आयाम पिछले वर्षों में सामने आया है वह इस बात की मांग करता है कि इन ऊंचे बांधों की फिर से समीक्षा हो।

पर क्या पर्यावरण का मुद्दा सचमुच कोई नया आयाम है? जिस सर्वगुण संपन्न पंचाट में पानी, नदी, मिट्टी, सिंचाई, फसलें, बिजली, भूगर्भ, भूकंप, भूजल के सैकड़ों विशेषज्ञ थे, दोनों राज्यों की जनता के प्रतिनिधि नेता थे, योजना वाले जानकार थे, जिसके सामने तब तक देश की दूसरी नदियों पर बन चुके बांधों के गुणों, अवगुणों का पूरा लेखा-जोखा था— उसे इस पर्यावरण नाम की चिड़िया का अता-पता न होना बड़ी अटपटी बात है।

खैर, कोई बात नहीं। पिछले वर्षों में कई तरह की बदनाम योजनाओं का ब्याज ढो रहे विश्व बैंक ने अपना पल्ला बचाने के लिए ऐसी तमाम योजनाओं को पैसा देने में पहले पर्यावरण की सुरक्षा का डिठोना लगाना जरूरी समझा। पैसा पाने के लिए आतुर सरकारों को भी मजबूरी में यह करना पड़ा। नर्मदा के बड़े बांधों को लेकर राज्य सरकारों ने नवंबर 84 में 'पर्यावरण जांच समिति' बनाई। पहली बैठक थी दिसंबर 84 की तीन तारीख को। पर्यावरण का सबक सीखने के लिए इससे भयानक कोई और दिन न उगे। भोपाल उसी रात विकास की भारी कीमत अदा कर चुका था। यूनियन कार्बाइड भी नर्मदा के बांधों की तरह गरीब और पिछड़े माने गए प्रदेश के लिए आधुनिक खेती का महान विचार लेकर आया था। ऐसे विचारों के बीच 'घटिया' विचारों की जगह भोपाल में भी नहीं बन पाई थी। नर्मदा घाटी तो फिर भी वहां से काफ़ी दूर थी।

नर्मदा घाटी को आधुनिक ढंग से विकसित करने के उच्च विचारों के बीच कुछ 'घटिया' विचार सन् 83 में उभरने लगे थे। दिल्ली की संस्था कल्पवृक्ष के दस छात्रों ने जुलाई-अगस्त में पूरी घाटी का दौरा किया और 44 पन्नों की एक रपट बनाकर पूछा था कि इतने बड़े बांधों की ये योजनाएं विकास के लिए हैं या विनाश के लिए। अब तक चित्रित किया जा रहा लाभ रपट के मुताबिक कोई शुभ संकेत नहीं देता था और स्वीकार की गई कुछ हानियां मात्रा में बहुत ज्यादा हो सकती थीं और निश्चित ही अशुभ संकेत देती थीं। फिर मई 85 में लंदन की एक संस्था 'सर्वाइवल इंटरनेशनल' ने गुजरात में बन रहे सरदार सरोवर की डूब में आने वाले आदिवासियों का पक्ष रखते हुए

विश्व बैंक को याद दिलाया कि आदिवासियों के पुनर्वास में बरती जा रही उपेक्षा बैंक की अपनी आचार संहिता के विरुद्ध जा रही है। फ़िलहाल कमज़ोर नायक के बदले बलवान खलनायक की आचार संहिता की याद दिलाना शायद ज़्यादा व्यावहारिक था।

फिर नर्मदा घाटी के विकास से जुड़े सबसे बड़े अधिकारी नर्मदा प्लानिंग एजेंसी के अध्यक्ष सुशीलचन्द्र वर्मा ने देश में पहली बार उन सब बातों को सार्वजनिक बनाया जो अब तक बने हर बांध में वहां के लोगों पर कहर ढाती हैं: जान बूझ कर ठीक से सर्वे नहीं होता, बांध के सरोवर में डूबने वाले इलाकों की ईमानदारी के साथ जानकारी नहीं दी जाती, पूरी कोशिश की जाती है कि मुआवज़े के मामले में सरकारें सस्ते में निपट जाएं आदि। वर्मा ने खुद बहुत दुख के साथ कहा कि नब्बे साल पहले सन् 1894 में अंग्रेज़ों द्वारा बनाया गया भू-अर्जन (भूमि अधिग्रहण) क़ानून ऐसी तमाम योजनाओं में लोगों को लूट कर अपना ख़ज़ाना भरने के लिए था। आज़ादी के बाद भी इस क़ानून में जो कुछ सुधार हुआ, वह सब सरकार के पक्ष में ही था, लोगों के पक्ष में नहीं। वर्मा ने पहली बार सरकारी तौर पर स्वीकार किया कि उत्तर में भाखड़ा से लेकर दक्षिण में बने श्रीशैलम और पोलावरम बांधों से बेघर-बार हुए लोग आज भी दर-दर भटक रहे हैं। इन बांधों का लाभ उठाने वाली सरकारें और लोग इन योजनाओं में डूब गए लोगों की शहादत को भूल चुके हैं। ऐसी योजनाओं से कई परिवारों को ठगा गया और वे हमेशा के लिए बर्बाद हो गए। इन पर अनगिनत जुल्म किए गए जो अब रोशनी में आ रहे हैं। वर्माजी के इन लेखों को पढ़ने से तो यही लगता है कि अब तक बांध सीमेंट कंक्रीट पर नहीं, अन्याय की नींव पर बांधे गए हैं। उनका कहना है कि “यह परंपरा ब्रिटिश काल से चली आ रही है। ज़ाहिर है कि जिस ग़ैर ज़िम्मेदारी से इन मसलों की तरफ़ देखा जाता था, जनता अब उसे बर्दाश्त नहीं करेगी।” उनके मुंह में घी शक्कर!

डूबने वालों के लिए इतनी संवेदना रखने वाले वर्मा जैसे अधिकारियों के रहते हुए भी नर्मदा घाटी में बंधने जा रहे बांधों में ऐसा कुछ नया नहीं होता दिखता कि ये बांध अन्याय की नींव पर नहीं, केवल सीमेंट की नींव पर खड़े हो सकेंगे। इधर पिछले दिनों ऐसे भी संकेत आने लगे हैं कि नुक़सान पाने वाले लोग और इलाकों की तो छोड़िए, लाभ पाने वाले क्षेत्र भी परेशानी में पड़

सकते हैं। बंगलौर के इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस की एक रपट का कहना है कि मध्यप्रदेश में इन बांधों से सिंचित होने वाले क्षेत्र का 40 प्रतिशत भाग (लगभग एक लाख हैक्टेयर) दलदल में भी बदल सकता है। अध्ययन दल ने इस ख़तरे को रोकने के भी कुछ उपाय ज़रूर बताए हैं। इस रपट पर काफी हल्ला मचा है। लेकिन सरकार का कहना है कि इससे घबराने की कोई बात नहीं क्योंकि वह अध्ययन तो खुद सरकार ने बंगलौर को सौंपा था। लगभग यही तर्क विश्व बैंक का है। वह भी कहता है कि पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का यह अध्ययन उसकी शर्त का एक हिस्सा था। इससे चौंकने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन अध्ययन की पहल का श्रेय ले लेने से उसमें छिपे नुकसान के ख़तरे को टाला नहीं जा सकता।

नर्मदा के पानी को लेकर झगड़ते रहे राज्यों को अब यह भी मालूम पड़ गया होगा कि नदी में उतना पानी नहीं बचा है जितने को ध्यान में रख कर ये सारी योजनाएं बनाई गई हैं। अनुमानित 280 लाख एकड़ फुट के बदले पिछले कुछ वर्षों का औसत 230 लाख एकड़ फुट है। पानी की कमी के कारण ऊंचे बांध रीते रह जाएंगे। नदी के पनढाल (जलागम) क्षेत्रों में एक तो बड़े बांधों के कारण पश्चिमी मध्यप्रदेश का कोई 43,064 हैक्टेयर वन डूबेगा और बचा हुआ पनढाल इतनी बुरी तरह से नंगा किया जा चुका है कि यह अब बांधों में गाद भरने का ही काम करेगा।

यों केन्द्र सरकार ने विश्व-खाद्य संगठन से आए एम एल दीवान की अध्यक्षता में इन बांधों को ध्यान में रख कर नर्मदा के पनढाल का सर्वे और उसे भूक्षरण से बचाने, वनीकरण करने के सुझाव देने की समिति बनाई थी। समिति ने काम पूरा किया। सुझाव दिया कि यदि इन बांधों की उम्र बढ़ानी है तो बांध बनने से पहले ही पनढाल को हरा-भरा बना लेना चाहिए। खर्च आएगा कोई 1400 करोड़ रुपया। पर बांध वाले कहते हैं कि उनके पास इतना पैसा नहीं है। वे बांध बनाएंगे, बांध की सेहत का ख़्याल कोई और रखे। कुल मिलाकर होगा यही कि इसका ख़्याल कोई नहीं रखेगा और बांध बन जाएंगे। तब बरसात के दिनों में बाढ़ आएगी और अपने साथ मिट्टी बहाकर इन बांधों को भेंट करेगी। धीरे-धीरे इससे उस बिजली पर भी असर पड़ेगा जिसे बनाने के लिए यह सारा तमाशा खड़ा किया जा रहा है। लेकिन बांध वाले कोई ख़तरा नहीं मानते। अब तक बनाए गए सभी बांधों में साद भरी है, उनकी

अनुमानित उम्र घटी है और इसलिए बांध बनाने वाले कम उम्र के बांधों के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि चिरंजीव शब्द उन्हें पुसाता नहीं।

कुछ लोगों की राय है कि इन बांधों की कमजोरियां या कमियों का हल होगा, जवाब होगा। फ़िलहाल उन बातों को सामने रखना चाहिए जिन्हें उन्होंने अनदेखा किया है। लेकिन आज सिंचाई विभाग अपनी गलतियों के बारे में कैसे सोचता है इसका एक उदाहरण है गुजरात में टूटा मोरवी बांध। विभाग के कुछ लोग आज भी पूरी ईमानदारी से मानते हैं कि मोरवी बांध तकनीक या प्रबंध की गलतियों के कारण नहीं, षड्यंत्र के कारण टूटा था। षड्यंत्र भी मामूली नहीं। अमेरिका ने अपने एक उपग्रह से संकेत भेज कर इस पर निशाना साधा था! लेकिन हमारी सरकार ने इस पर ज़ोरदार विरोध क्यों नहीं प्रकट किया? जवाब है कि पर्याप्त प्रमाण नहीं जुटाए जा सके थे। अगर यह सही है तो फिर पूछना चाहिए कि नर्मदा पर मोरवी से सौ गुने बड़े बांध क्यों बना रहे हो। क्या हमने अपनी राजनैतिक हैसियत इतनी मज़बूत कर ली है कि कोई देश अपने उपग्रहों से हमारे साथ फिर ऐसा खिलवाड़ नहीं कर पाएगा?

ख़ैर गलतियों की बात छोड़ें, अनदेखी को देखें। अनदेखी की सूची तो बहुत लंबी है। सबसे भयानक समस्या होगी उनाव की। यह शब्द अभी ज़्यादा नहीं चला है क्योंकि यह समस्या भी अभी उतनी नहीं उठी थी। उनाव यानी बाढ़ के समय पीछे पलट कर लगातार उठने वाला जलस्तर। उसे बांध वाले 'बैक वॉटर' कहते हैं। बड़े बांधों के कारण नदी का जलस्तर काफी ऊपर उठ जाएगा। तब जब भी बाढ़ आएगी, पूर में बह रही नर्मदा में जो असंख्य सहायक नदियां और नाले मिलेंगे, उन सबमें पानी का स्तर मुख्य धारा के बढ़ते जलस्तर के कारण लगातार अपने किनारे तोड़ कर आसपास के खेत, घर, रास्तों को अपने में लपेटेगा। अभी तक बांध वालों ने केवल मुख्य धारा के उनाव का थोड़ा बहुत अध्ययन किया है। पर सभी जानते हैं कि नर्मदा घाटी दोनों तरफ पहाड़ों से घिरी एक संकरी घाटी है। इसमें कदम-कदम पर मिलने वाली सहायक नदियों के उनाव की कल्पना करते हुए भी डर लगता है।

दूसरी अनदेखी है इन भीमकाय बांधों के सरोवरों से इस क्षेत्र में भूकंप आने की आशंकाएं। कुछ लोगों ने पिछले दिनों कोयना बांध के भूकंप को उसके जलाशय के दाब से जोड़ा है। ज्यों-ज्यों सरोवर में जलस्तर बढ़ता जाता है भूकंप की परिस्थितियां बनने लगती थीं। उसका पानी छोड़ते जाने से ये

आशंकाएं भी कम होने लगती हैं। नर्मदा घाटी में खरगोन के पास सेंधवा में पिछले 137 वर्ष में पांच बार भूकंप आया है। कहा जा सकता है कि बांधों को भूकंप सहने लायक मजबूत बनाया जा रहा है पर आसपास की बस्तियों का क्या होगा?

बिजली के पीछे जा रहे योजनाकारों को अब यह भी पता चल गया होगा कि नर्मदा घाटी में तेल की भी गुंजाइश है। तेल कम निकलेगा या ज्यादा, यह अभी तक तय नहीं हो पाया है। तेल और प्राकृतिक गैस आयोग ने जो कुछ यहां देखा-परखा है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र बंबई से ईरान जा रही एक तेल पट्टी की पीठ है। इसे बांधों में डुबोने से पहले यह तो जांच लें कि हम खोने क्या-क्या जा रहे हैं।

हम क्या-क्या खो रहे हैं यह जानना ज़रूरी है। क्योंकि 21वीं सदी आख़री मंज़िल नहीं है। वह एक पड़ाव भर होगी। 22वीं सदी भी आएगी, 23वीं भी और उसके आगे भी सूरज उगेगा और डूबेगा। तब भी मालवा, निमाड़, मध्यप्रदेश, गुजरात और देश को विकास करना होगा। इसलिए मेहरबानी करके विकास के (अगर यह सचमुच विकास है तो) सारे माध्यमों पर इन्हीं 15-20 सालों में कब्ज़ा मत कीजिए। नर्मदा पर बांधों की कुछ दर्जन भर जगहें अगली पीढ़ी के लिए भी सुरक्षित छोड़ दें। ऐसी क्या हाय तौबा है कि 80 बड़े 300 मंज़ोले और 3000 छोटे बांध बना लेने की सारी ज़िम्मेदारी इसी पीढ़ी के नाजुक कंधों पर आ गई है? सारा जंगल यही पीढ़ी काट ले, डुबो दे, भूमि का सारा उपजाऊपन यही पीढ़ी खींच ले!

पिछली पीढ़ियां इस पीढ़ी के लिए यह सब छोड़ती आई हैं। ऐसा नहीं था कि ये इनमें से ज्यादातर काम कर ही नहीं सकती थीं, इसलिए उन्होंने किए नहीं। नर्मदा के किनारे कोटेश्वर के पास बावनगजा तीर्थ है। जो लोग आज से 2031 साल पहले पत्थर की बावन गज़ यानी 156 फुट ऊंची मूर्ति बना सके वे यहां की प्रकृति को पहले विकास के लिए डुबो भी सकते थे। कोई 7000 साल पहले मालवा के पठार में आकर बसे लोगों ने त्रिपुरी, महिष्मती जैसे शक्तिशाली राज्यों की नींव रखी थी। चिकल्दा, झाकड़ा, खेड़, पिपल्दा आदि उनके केंद्र थे। चेटियों, गोंड और हैहय वंशों ने नर्मदा के सुवर्ण कछार की समृद्धि से अपने राज्य मजबूत किए। जिस खंबात की खाड़ी में आज नर्मदा अपना 'सारा जल बर्बाद' कर रही है, वही खंबात उस दौर में हमारा सबसे

पुराना और विकसित बंदरगाह था। वहां से अरब, इज़राइल और अफ़्रीका के साथ व्यापार होता था।

आज नर्मदा घाटी का इलाका पिछड़ा बता दिया गया है। इसका पिछड़ापन दूर करने के लिए ये बांध कल्याणकारी यज्ञ की तरह प्रचारित किए जा रहे हैं। इन यज्ञों के लिए आहुति चाहिए। ऐसे लोगों की पहले भी कमी नहीं थी जो अपने क्षेत्र की उन्नति के लिए बलिदान हो जाते थे। नर्मदा के बहुत से इलाकों में आज भी 'गाता' मिलेंगे। सिल के आकार के पत्थरों पर उकेरी हुई ये मूर्तियां उन शहीदों की स्मृति के लिए हैं जो अपनी और अपने समाज की शान, आन के लिए मर मिटे। आज भी 'गाता' के पास मेले लगते हैं और हाट सजते हैं। लेकिन नर्मदा के बांधों में शहीद होने वालों की 'गाता' नहीं बनेगी। विस्थापितों के साथ जो अन्याय की परंपरा अंग्रेजों के ज़माने से कल तक जारी थी उसे एक अकेले सुशील चंद्र वर्मा कितना बदल पाएंगे? विस्थापित तो भटकेंगे ही और अगर लाभ पाने वाले लोग अनदेखी बातों के कारण उखड़ गए तो? इसलिए कल्याणकारी सरकारें यज्ञ ज़रूर करें पर उतने ही बड़े जिनमें कोई चूक हो गई तो सिर्फ़ सरकार की उंगलियां जलें, लोग न जलें, पीढ़ियां न झुलसें।

सन उन्नीस सौ सतासी में लिखा गया लेख।

तैरने वाला समाज डूब रहा है

उत्तर बिहार में आई भयानक बाढ़ अब आगे निकल गई है। कुछ लोग उसे भूल भी जाएंगे। लेकिन याद रखना चाहिए कि उत्तर बिहार उस बाढ़ की मंज़िल नहीं था। वह एक पड़ाव भर था। बाढ़ की शुरुआत नेपाल से होती है, फिर वह उत्तर बिहार आती है। उसके बाद बंगाल जाती है। और सबसे अंत में सितंबर के अंत या अक्टूबर के प्रारंभ में वह बांग्लादेश में अपनी आखिरी उपस्थिति जताते हुए सागर में मिलती है।

इस बार उत्तर बिहार में बाढ़ ने बहुत अधिक तबाही मचाई। कुछ दिन सभी का ध्यान इसकी तरफ गया। जैसा कि अक्सर होता है, हेलिकॉप्टर आदि से दौरे हुए। फिर अगली बाढ़ तक इसे भुला दिया जाता है। भूल नहीं पाते हैं वे लाखों लोग जो बाढ़ में अपना सब कुछ खो बैठते हैं। इन्हें अपना जीवन फिर लगभग शून्य से शुरू करना पड़ता है।

बाढ़ अतिथि नहीं है। यह कभी अचानक नहीं आती। दो-चार दिन का अंतर पड़ जाए तो बात अलग है। इसके आने की तिथियां बिल्कुल तय हैं। लेकिन जब बाढ़ आती है तो हम कुछ ऐसा व्यवहार करते हैं कि यह अचानक आई विपत्ति है। इसके पहले जो तैयारियां करनी चाहिए, वे बिल्कुल नहीं हो पाती हैं। इसलिए अब बाढ़ की मारक क्षमता पहले से अधिक बढ़ चली है। पहले शायद हमारा समाज बिना इतने बड़े प्रशासन के या बिना इतने बड़े निकम्मे प्रशासन के अपना इंतजाम बखूबी करना जानता था। इसलिए बाढ़ आने पर वह इतना परेशान नहीं दिखता था।

इस बार की बाढ़ ने उत्तर बिहार को कुछ अभिशप्त इलाके की तरह छोड़ दिया है। सभी जगह बाढ़ से निपटने में अव्यवस्था की चर्चा हुई है। अव्यवस्था के कई कारण भी गिनाए गए हैं — वहां की असहाय गरीबी आदि। लेकिन

बहुत कम लोगों को इस बात का अंदाज़ होगा कि उत्तर बिहार एक बहुत ही संपन्न टुकड़ा रहा है इस प्रदेश का। मुजफ्फरपुर की लीचियां, पूसा ढोली की ईख, दरभंगा का शाहबसंत धान, शकरकंद, आम, चीनिया केला और बादाम और यहीं के कुछ इलाकों में पैदा होने वाली तंबाकू, जो पूरे शरीर की नसों को हिलाकर रख देती है। सिलोत क्षेत्र का पतले-से-पतला चूड़ा, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह नाक की हवा से उड़ जाता है, उसके स्वाद की चर्चा तो अलग ही है। वहां धान की ऐसी भी किस्में रही हैं जो बाढ़ के पानी के साथ-साथ खेलती हुई ऊपर उठती जाती थीं और फिर बाढ़ को विदा कर खलिहान में आती थीं। फिर दियारा के संपन्न खेत।

सुधी पाठक इस सूची को न जाने कितना बढ़ा सकते हैं। इसमें पटसन और नील भी जोड़ लें तो आप 'दुनिया के सबसे बड़े' यानी लंबे प्लेटफॉर्म पर अपने आप को खड़ा पाएंगे। सोनपुर का प्लेटफॉर्म। ऐसा कहते हैं कि यह हमारे देश का सबसे बड़ा प्लेटफॉर्म रहा है। यह वहां की संपन्नतम चीजों को रेल से ढोकर देश के भीतर और बाहर ले जाने के लिए बनाया गया था। एक पूरा संपन्न इलाका उत्तर बिहार आज दयनीय स्थिति में क्यों पड़ गया है? हमें सोचना चाहिए। आज हम इस इलाके की कोई चिंता नहीं कर रहे हैं और उसे एक तरह से लाचारी में छोड़ बैठे हैं।

बाढ़ आने पर सबसे पहला दोष तो हम नेपाल को देते हैं। नेपाल एक छोटा-सा देश है। बाढ़ के लिए हम उसे कब तक दोषी ठहराते रहेंगे? कहा जाता है कि नेपाल ने पानी छोड़ा, इसलिए उत्तर बिहार बह गया। यह देखने लायक बात होगी कि नेपाल कितना पानी छोड़ता है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि नेपाल बाढ़ का पहला हिस्सा है। वहां हिमालय की ऊंची चोटियों पर जो पानी गिरता है, उसे रोकने की उसके पास कोई क्षमता और साधन नहीं है। और शायद उसे रोकने की कोई व्यावहारिक जरूरत भी नहीं है। रोकने से खतरे और भी बढ़ सकते हैं। इसलिए नेपाल पर दोष थोपना बंद करना होगा।

यदि नेपाल पानी रोकेंगा तो आज नहीं तो कल, हमें अभी की बाढ़ से भी भयंकर बाढ़ को झेलने की तैयारी करके रखनी पड़ेगी। हम सब जानते हैं कि हिमालय का यह हिस्सा कच्चा है और इसमें कितनी भी सावधानी और ईमानदारी से बनाए गए बांध किसी-न-किसी तरह से प्रकृति की किसी

छोटी-सी हलचल से टूट भी सकते हैं। और तब आज से कई गुना भयंकर बाढ़ हमारे सामने आ सकती है। यदि नेपाल को ही दोषी ठहराया जाए तो कम-से-कम बिहार के बाढ़ नियंत्रण का एक बड़ा भाग — पैसों का, इंजीनियरों का, नेताओं का अप्रैल और मई में नेपाल जाना चाहिए ताकि वहां यहां की बाढ़ से निपटने के लिए पुख्ता इंतजामों के बारे में बातचीत की जा सके। बातचीत मित्रवत हो, तकनीकी तौर पर हो और जरूरत पड़े तो फिर मई में ही प्रधानमंत्री नहीं तो प्रदेश के मुख्यमंत्री ही नेपाल जाएं और आगामी जुलाई अगस्त या सितंबर में आने वाली बाढ़ के बारे में चर्चा करके देखें।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि हम बाढ़ के रास्ते में हैं। उत्तर बिहार से पहले नेपाल में भी काफी लोगों को बाढ़ के कारण जान से हाथ धोना पड़ता है। पिछले साल नेपाल में भयंकर भूस्खलन हुए थे, और तब हमें पता चल जाना चाहिए था कि अगले साल हम पर भी बड़ा संकट आएगा, क्योंकि हिमालय के इस कच्चे भाग में जितने भूस्खलन हुए, उन सबका मलबा वहीं का वहीं पड़ा था और वह इस वर्ष की बरसात में नीचे उतर आने वाला था।

उत्तर बिहार की परिस्थिति भी अलग से समझने लायक है। यहां पर हिमालय से अनगिनत नदियां सीधे उतरती हैं और उनके उतरने का एक ही सरल उदाहरण दिया जा सकता है: जैसे पाठशाला में टीन की फिसलपट्टी होती है, उसी तरह से ये नदियां हिमालय से बर्फ की फिसलपट्टी से धड़ाधड़ नीचे उतरती हैं। हिमालय के इसी क्षेत्र में नेपाल के हिस्से में सबसे ऊंची चोटियां हैं और कम दूरी तय करके ये नदियां उत्तर भारत में नीचे उतरती हैं। इसलिए इन नदियों की पानी की क्षमता, उनका वेग, उनके साथ कच्चे हिमालय से, शिवालिक से आने वाली मिट्टी और गाद, साद इतनी अधिक होती है कि उसकी तुलना पश्चिमी हिमालय और उत्तर-पूर्वी हिमालय से नहीं कर सकते।

एक तो वह सबसे ऊंचा क्षेत्र है, कच्चा भी है, फिर भ्रंश पर टिका हुआ इलाका है। यहां भौगोलिक परिस्थितियां ऐसी हैं जहां से हिमालय का जन्म हुआ है। बहुत कम लोगों को अंदाज़ होगा कि हमारा समाज भी भू-विज्ञान को, 'जिओ मार्फालॉजी' को, खूब अच्छी तरह समझता है। इसी इलाके में ग्यारहवीं शताब्दी में बना वराह अवतार का मंदिर भी है। भगवान के वराह रूप के मंदिर किसी और इलाके में आसानी से मिलते नहीं हैं। यह हिस्सा

कुछ करोड़ साल पहले किसी एक घटना के कारण हिमालय के रूप में सामने आया। यहीं से फिर नदियों का जाल बिछा। ये सरपट दौड़ती हुई आती हैं — सीधी उतरती हैं। इससे उनकी ताकत और बढ़ जाती है।

जब हिमालय बना, तब कहते हैं कि उसके तीन पुड़े थे। तीन तहें थीं। जैसे मध्यप्रदेश के हिस्से में सतपुड़ा है, वैसे यहां तीन पुड़े थे— आंतरिक, मध्य और बाह्य। बाह्य हिस्सा शिवालिक सबसे कमजोर माना जाता है। वैसे भी भूगोल की परिभाषा में हिमालय के लिए कहा जाता है कि यह अरावली, विंध्य और सतपुड़ा के मुकाबले बच्चा है। महीनों के बारह पन्ने पलटने से हमारे सभी तरह के कैलेंडर दीवार पर से उतर जाते हैं। लेकिन प्रकृति के कैलेंडर में लाखों वर्ष का एक पन्ना होता है। उस कैलेंडर से देखें तो शायद अरावली की उम्र नब्बे वर्ष होगी और हिमालय? अभी चार-पांच बरस का शैतान बच्चा है। वह अभी उछलता-कूदता है, खेलता-डोलता है। टूट-फूट उसमें बहुत होती रहती है। अभी उसमें प्रौढ़ता या वयस्क वाला संयम नहीं है। शांत, धीरज जैसे गुण नहीं आए हैं। इसलिए हिमालय की ये नदियां सिर्फ पानी नहीं बहाती हैं, वे साद, मिट्टी, पत्थर और बड़ी-बड़ी चट्टानें भी साथ लाती हैं। उत्तर बिहार का समाज अपनी स्मृति में इन बातों को दर्ज कर चुका था।

एक तो चंचल बच्चा हिमालय, फिर कच्चा और तिस पर भूकंप वाला क्षेत्र भी — क्या कसर बाकी रह गई है? हिमालय के इसी क्षेत्र से भूकंप की एक बड़ी और प्रमुख पट्टी गुजरती है। दूसरी पट्टी इस पट्टी से थोड़े ऊपर के भाग में मध्य हिमालय में आती है। सारा भाग लाखों बरस पहले के अस्थिर मलबे के ढेर से बना है और फिर भूकंप इसे जब चाहे और अस्थिर बना देते हैं। भू-विज्ञान बताता है कि इस उत्तर बिहार में और नेपाल के क्षेत्र में धरती में समुद्र की तरह लहरें उठी थीं और फिर वे एक-दूसरे से टकरा कर ऊपर-ही-ऊपर उठती चली गईं। और फिर कुछ समय के लिए स्थिर हो गईं। यह 'स्थिरता' तांडव नृत्य की तरह है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में लाखों वर्ष पहले 'मियोसिन' काल में घटी इस घटना को उत्तरी बिहार के समाज ने अपनी स्मृति में वराह अवतार के रूप में जमा किया है। जिस डूबती पृथ्वी को वराह ने अपने थूथनों से ऊपर उठाया था, वह आज भी कभी भी कांप जाती है। 1934 में जो भूकंप आया था, उसे अभी भी लोग भूले नहीं हैं।

लेकिन यहां के समाज ने इन सब परिस्थितियों को अपनी जीवन शैली में, जीवन दर्शन में धीरे-धीरे आत्मसात किया था। प्रकृति के इस विराट रूप में वह एक छोटी-सी बूंद की तरह शामिल हुआ। उसमें कोई घमंड नहीं था। वह इस प्रकृति से लड़ लेगा, उसे जीत लेगा, ऐसा घमंड नहीं किया। वह उसकी गोद में कैसे रह सकता है— इसका उसने अभ्यास करके रखा था। क्षणभंगुर समाज ने करोड़ों वर्षों की इस लीला में अपने को प्रौढ़ बना लिया और फिर अपनी प्रौढ़ता को हिमालय के लड़कपन की गोद में डाल दिया था।

लेकिन पिछले सौ-डेढ़-सौ साल में हमारे समाज ने ऐसी बहुत सारी चीजें की हैं, जिनसे उसका विनम्र स्वभाव बदला है और उसके मन में थोड़ा घमंड भी आया है। समाज के मन में न सही तो उसके नेताओं के, योजनाकारों के मन में, अधिकारियों, इंजीनियरों के मन में यह घमंड आया है। समाज ने पीढ़ियों से, शताब्दियों से यहां फिसलगुंडी की तरह फुर्ती से उतरने वाली नदियों के साथ जीवन जीने की कला सीखी थी, बाढ़ के साथ बढ़ने की कला सीखी थी। उसने और उसकी फसलों ने बाढ़ में डूबने के बदले तैरने की कला सीखी थी। वह कला आज धीरे-धीरे मिटती जा रही है।

उत्तर बिहार में हिमालय से उतरने वाली नदियों की संख्या अनगिनत है। कोई गिनती नहीं है, फिर भी कुछ लोगों ने उनकी गिनती की है। आज लोग यह मानते हैं कि यहां पर इन नदियों ने दुख के अलावा कुछ नहीं दिया है। पर इनके नाम देखेंगे तो इनमें से किसी भी नदी के नाम में, विशेषण में दुख का कोई पर्यायवाची देखने को नहीं मिलेगा। लोगों ने नदियों को हमेशा की तरह देवियों के रूप में देखा है। हम उनके विशेषण दूसरी तरह से देखें तो उनमें आपको बहुत तरह-तरह के ऐसे शब्द मिलेंगे जो उस समाज और नदियों के रिश्ते को बताते हैं। कुछ नाम संस्कृत से होंगे। कुछ गुणों पर होंगे और एकाध अवगुणों पर भी हो सकते हैं।

इन नदियों के विशेषणों में सबसे अधिक संख्या है— आभूषणों की। और ये आभूषण हंसुली, अंगूठी और चंद्रहार जैसे गहनों के नाम पर हैं। हम सभी जानते हैं कि ये आभूषण गोल आकार के होते हैं— यानी यहां पर नदियां उतरते समय इधर-उधर सीधी बहने के बदले आड़ी-तिरछी, गोल आकार में क्षेत्र को बांधती हैं— गांवों को लपेटती हैं और उन गांवों का आभूषणों की

तरह श्रृंगार करती हैं। उत्तर बिहार के कई गांव इन 'आभूषणों' से ऐसे सजे हुए थे कि बिना पैर धोए आप इन गांवों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। इनमें रहने वाले आपको गर्व से बताएंगे कि हमारे गांव की पवित्र धूल गांव से बाहर नहीं जा सकती, और आप हमारे गांव में शहर से अपनी (शायद अपवित्र) धूल गांव में ला नहीं सकते। कहीं-कहीं बहुत व्यावहारिक नाम भी मिलेंगे। एक नदी का नाम गोमूत्रिका है — जैसे कोई गाय चलते-चलते पेशाब करती है तो जमीन पर आड़े-तिरछे निशान पड़ जाते हैं। इतनी आड़ी-तिरछी बहने वाली यह नदी है। इसमें एक-एक नदी का स्वभाव देखकर लोगों ने इन नदियों को अपनी स्मृति में रखा है।

एक तो इन नदियों का स्वभाव और ऊपर से पानी के साथ आने वाली साद के कारण ये अपना रास्ता बदलती रहती हैं। कोसी के बारे में कहा जाता है कि इसने पिछले कुछ सौ साल में 148 किलोमीटर के क्षेत्र में अपनी धारा बदली है। उत्तर बिहार के दो जिलों की इंच भर जमीन भी कोसी ने नहीं छोड़ी है, जहां से वह बही न हो। ऐसी नदियों को हम किसी तरह के तटबंध या बांध से बांध सकते हैं, यह कल्पना भी करना अपने आप में विचित्र है। समाज ने इन नदियों को अभिशाप की तरह नहीं देखा। उसने इनके वरदान को कृतज्ञता से स्वीकार किया। उसने यह माना कि इन नदियों ने हिमालय की कीमती मिट्टी इस क्षेत्र के दलदल में पटक कर बहुत बड़ी मात्रा में खेती योग्य जमीन निकाली है। इसलिए वह इन नदियों को बहुत आदर के साथ देखता रहा है। कहा जाता है कि पूरा-का-पूरा दरभंगा खेती योग्य हो सका तो इन्हीं नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी के कारण ही। लेकिन इनमें भी समाज ने उन नदियों को छांटा है, जो अपेक्षाकृत कम साद वाले इलाके से आती हैं। ऐसी नदियों में एक है - खिरोदी। कहा जाता है कि इसका नामकरण क्षीर अर्थात् दूध से हुआ है, क्योंकि इसमें साफ पानी बहता है। एक नदी जीवछ है, जो शायद जीवात्मा या जीव इच्छा से बनी होगी। सोनबरसा भी है। इन नदियों के नामों में गुणों का वर्णन देखेंगे तो किसी में भी बाढ़ से लाचारी की झलक नहीं मिलेगी। कई जगह लालित्य है इन नदियों के स्वभाव में। सुंदर कहानी है मैथिली के कवि विद्यापति की।

कवि जब अस्वस्थ हो गए तो उन्होंने अपने प्राण नदी में ही छोड़ने का प्रण किया। कवि प्राण छोड़ने नदी की तरफ चल पड़े, मगर बहुत अस्वस्थ

होने के कारण नदी किनारे तक नहीं पहुंच सके। कुछ दूरी पर ही रह गए तो उन्होंने नदी से प्रार्थना की कि हे मां, मेरे साहित्य में कोई शक्ति हो, मेरे कुछ पुण्य हों तो मुझे ले जाओ। कहते हैं कि नदी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। अपना रास्ता बदल कर कवि तक आई और कवि को बहा ले गई।

नदियां विहार करती हैं, उत्तर बिहार में। वे खेलती हैं, कूदती हैं। यह सारी जगह उनकी है, यह है उनका आंगन। इसलिए वे कहीं भी जाएं, उसे जगह बदलना नहीं माना जाता था। उत्तर बिहार में समाज का एक दर्पण साहित्य रहा होगा तो दूसरा तरल दर्पण नदियां थीं। इन असंख्य नदियों में वहां का समाज अपना चेहरा देखता था और नदियों के चंचल स्वभाव को बड़े शांत भाव से अपनी देह में, अपने मन और अपने विचारों में उतारता था। इसलिए कभी वहां कवि विद्यापति जैसे सुंदर किस्से बनते तो कभी फुलपरास जैसी घटनाएं रेत में उकेरी जातीं। नदियों की लहरें रेत में लिखी इन घटनाओं को मिटाती नहीं थीं — हर लहर इन्हें पक्के शिलालेखों में बदलती थी। ये शिलालेख इतिहास में मिलें न मिलें, लोगों के मन में, लोक स्मृति में मिलते थे। फुलपरास का किस्सा यहां दोहराने लायक है।

कभी भुतही नदी फुलपरास नाम के एक स्थान से रास्ता बदल कर कहीं और 'भटक' गई। तब वहां के गांवों में भुतही को वापस बुलाने के लिए अनुष्ठान किया गया। नदी ने मनुहार स्वीकार की और अगले वर्ष वापस चली आई! ये कहानियां समाज इसलिए याद रखवाना चाहता है कि लोगों को मालूम रहे कि यहां की नदियां कवि के कहने से भी रास्ता बदल लेती हैं और साधारण लोगों के आग्रह को स्वीकार कर अपना बदला हुआ रास्ता फिर से सुधार लेती हैं। इसलिए इन नदियों के स्वभाव को ध्यान में रख कर जीवन चलाओ। ये चीजें हम लोगों को इस तरफ ले जाती हैं कि जिन बातों को भूल गए हैं, उन्हें फिर से याद करें।

कुछ नदियों के बहुत विचित्र नाम भी समाज ने हजारों साल के अनुभव से रखे थे। इनमें से एक विचित्र नाम है- अमरबेल। कहीं इसे आकाशबेल भी कहते हैं। इस नदी का उद्भव और संगम कहीं नहीं दिखाई देता है। कहां से निकलती है, किस नदी में मिलती है — ऐसी कोई पक्की जानकारी नहीं

है। बरसात के दिनों में अचानक प्रकट होती है और जैसे पेड़ पर अमरबेल छा जाती है। वैसे ही एक बड़े इलाके में इसकी कई धाराएं दिखाई देती हैं। फिर ये गायब भी हो जाती हैं। यह भी जरूरी नहीं कि वह अगले साल इन्हीं धाराओं में से बहे। तब यह अपना कोई दूसरा नया जाल खोल लेती है। एक नदी का नाम है दस्यु नदी। यह दस्यु की तरह दूसरी नदियों की 'कमाई' हुई जलराशि का, उनके वैभव का हरण कर लेती है। इसलिए पुराने साहित्य में इसका एक विशेषण वैभवहरण भी मिलता है।

फिर बिल्कुल चालू बोलियों में भी नदियों के नाम मिलते हैं। एक नदी का नाम मरने है। इसी तरह एक नदी मरगंगा है। भुतहा या भुतही का किस्सा तो ऊपर आ ही गया है। जहां ढेर सारी नदियां हर कभी हर कहीं से बहती हों सारे नियम तोड़ कर, वहां समाज ने एक ऐसी भी नदी खोज ली थी जो टस से मस नहीं होती थी। उसका नाम रखा गया-धर्ममूला। ये सब किस्से, नाम बताते हैं कि नदियां वहां जीवंत भी हैं और कभी-कभी वे गायब भी हो जाती हैं, भूत भी बन जाती हैं, मर भी जाती हैं। यह सब इसलिए होता है कि ऊपर से आने वाली साद उनमें भ्रान और धसान की दो गतिविधियां इतनी तेजी से चलाती हैं कि उनके रूप हर बार बदलते जाते हैं।

बहुत छोटी-छोटी नदियों के वर्णन में ऐसा मिलता है कि इनमें ऐसी भंवर उठती हैं कि हाथियों को भी डुबो दें। इनमें चट्टानों और पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े आते हैं और जब वे आपस में टकराते हैं तो ऐसी आवाज आती है कि दिशाएं बहरी हो जाएं! ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि कुछ नदियों में बरसात के दिनों में मगरमच्छों का आना इतना अधिक हो जाता है कि उनके सिर या थूथने गोबर के कंडे की तरह तैरते हुए दिखाई देते हैं। ये नदियां एक-दूसरे से बहुत मिलती हैं, एक-दूसरे का पानी लेती हैं और देती भी हैं। इस आदान-प्रदान में जो खेल होता है, उसे हमने एक हद तक अब बाढ़ में बदल दिया है। नहीं तो यहां के लोग इस खेल को दूसरे ढंग से देखते थे। वे बाढ़ की प्रतीक्षा करते थे।

इन्हीं नदियों की बाढ़ के पानी को रोक कर समाज बड़े-बड़े तालाबों में डालता था और इससे इनकी बाढ़ का वेग कम करता था। एक पुराना पद मिलता है— 'चार कोसी झाड़ी।' इसके बारे में नए लोगों को अब ज्यादा कुछ पता नहीं है। पुराने लोगों से ऐसी जानकारी एकत्र कर यहां के इलाके का

स्वभाव समझना चाहिए। चार कोसी झाड़ी का कुछ हिस्सा शायद चंपारण में बचा है। ऐसा कहते हैं कि पूरे हिमालय की तराई में चार कोस की चौड़ाई का एक घना जंगल बचा कर रखा गया था। इसकी लंबाई पूरे बिहार में ग्यारह-बारह सौ किलोमीटर तक चलती थी। यह पूर्वी उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र तक जाता था। चार कोस चौड़ाई और उसकी लंबाई हिमालय की पूरी तलहटी में थी। आज के खर्चीले, अव्यावहारिक तटबंधों के बदले यह विशाल वन-बंध बाढ़ लाने वाली नदियों को छानने का काम करता था। तब भी बाढ़ आती रही होगी, लेकिन उसकी मारक क्षमता ऐसी नहीं होगी।

ढाई हजार साल पहले के एक संवाद में बाढ़ का कुछ वर्णन मिलता है। संवाद भगवान बुद्ध और एक ग्वाले के बीच है। ग्वाले के घर में किसी दिन भगवान बुद्ध पहुंचे हैं। काली घटाएं छाई हुई हैं। ग्वाला बुद्ध से कह रहा है कि उसने अपना छप्पर कस लिया है, गाय को मजबूती से खूंटे में बांध दिया है, फसल काट ली है और नाव बांध ली है। अब बाढ़ का कोई डर नहीं बचा है। आराम से चाहे जितना पानी बरसे। नदी देवी दर्शन देकर चली जाएगी। इसके बाद भगवान बुद्ध ग्वाले से कह रहे हैं कि मैंने तृष्णा की नावों को खोल दिया है। अब मुझे बाढ़ का कोई डर नहीं है। युगपुरुष साधारण ग्वाले की झोपड़ी में नदी किनारे रात बिताएंगे। उस नदी के किनारे, जिसमें रात को कभी भी बाढ़ आ जाएगी! पर दोनों निश्चित हैं। क्या आज ऐसा संवाद बाढ़ से ठीक पहले हो जाएगा?

ये सारी चीजें हमें बताती हैं कि लोग इस पानी से, इस बाढ़ से खेलना जानते थे। यहां का समाज इस बाढ़ में तैरना जानता था। इस बाढ़ से तैरना भी जानता था। इस पूरे इलाके में हृद और चौरा या चौर शब्द बड़े तालाबों के लिए हैं। चौर में बाढ़ का अतिरिक्त पानी रोक लिया जाता था। इस इलाके में पुराने और बड़े तालाबों का वर्णन खूब मिलता है। दरभंगा का एक तालाब इतना बड़ा था कि उसका वर्णन करने वाले उसे अतिशयोक्ति तक ले गए। उसे बनाने वाले लोगों ने अगस्त्य मुनि तक को चुनौती दी कि तुमने समुद्र का पानी पीकर उसे सुखा दिया था, अब हमारे इस तालाब को पीकर सुखा दो तब जानें। वैसे समुद्र जितना बड़ा कुछ भी न होगा, यह वहां के लोगों को भी पता था। पर यह एक खेल है कि हम इतना बड़ा तालाब बनाना जानते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक वहां के बड़े-बड़े तालाबों के बड़े-बड़े किस्से चलते थे। परिहारपुर, भरवाहा और आलापुर आदि क्षेत्रों में दो-तीन मील लंबे-चौड़े तालाब थे। धीरे-धीरे बाद के नियोजकों, राजनेताओं, अधिकारियों के मन में यह आया कि इतनी जलराशि से भरे बड़े-बड़े तालाब बेकार की जगह घेरते हैं— इनका पानी सुखा कर जमीन लोगों को खेती के लिए उपलब्ध करा दें। इस तरह हमने दो-चार खेत जरूर बढ़ा लिए, लेकिन दूसरी तरफ शायद सौ-दो-सौ खेत हमने बाढ़ को भेंट चढ़ा दिए। अब यहां पुराने खेत तो डूबते ही हैं, नए भी डूबते हैं। खेत ही अकेले नहीं खलियान, घर, बस्ती सब बाढ़ में समा जाते हैं।

आज अंग्रेजी में रेन वॉटर हारवेस्टिंग शब्द है। इस तरह का पूरा ढांचा उत्तर बिहार के लोगों ने बनाया था— वह 'फ्लड वॉटर हारवेस्टिंग सिस्टम' था। उसी से उन्होंने यह खेल खेला था। तब भी बाढ़ आती थी, लेकिन वे बाढ़ की मार को कम-से-कम करना जानते थे। तालाब का एक विशेषण यहां मिलता है— नदिया ताल। यानी वह वर्षा के पानी से नहीं, बल्कि नदी के पानी से भरता था। पूरे देश में वर्षा के पानी से भरने वाले तालाब मिलेंगे। लेकिन यहां हिमालय से उतरने वाली नदियां इतना अधिक पानी लेकर आती हैं कि नदी से भरने वाला तालाब बनाना ज्यादा व्यावहारिक होता था। नदी का पानी धीरे-धीरे, कहीं-न-कहीं रोकते-रोकते, उसकी मारक क्षमता को उपकार में बदलते-बदलते आगे गंगा में मिलाया जाता था। ऐसे भूगोलविद् समझदार समाज के आज टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं। आज के नए लोग मानते हैं कि यह समाज अनपढ़ है, पिछड़ा है। नए लोग ऐसे दंभी हैं।

उत्तर बिहार से निकलने वाली बाढ़ पश्चिम बंगाल होते हुए बांग्लादेश में जाती है। एक मोटा अंदाजा है कि बांग्लादेश में कुल जो जलराशि इकट्ठी होती है, उसका केवल दस प्रतिशत उसे बादलों से मिलता है। नब्बे फीसदी उसे बिहार, नेपाल और दूसरी तरफ से आने वाली नदियों से मिलता है। वहां तीन बड़ी नदियां—गंगा, मेघना और ब्रह्मपुत्र हैं। ये तीनों नदियां नब्बे फीसदी पानी उस देश में लेकर आती हैं और शेष दस फीसदी वर्षा से मिलता है। बांग्लादेश का समाज सदियों से इन नदियों के किनारे, इनके संगम के किनारे रहना जानता था। वहां नदी अनेक मील तक फैल जाती है। हमारी जैसी नदियां नहीं होतीं कि एक तट से दूसरा तट दिखाई दे। वहां की नदियां क्षितिज तक

चली जाती हैं। उन नदियों के किनारे भी वह न सिर्फ बाढ़ से खेलना जानता था, बल्कि बाढ़ को अपने लिए उपकारी भी बनाना जानता था। इसी में से अपनी अच्छी फसल निकालता था, आगे का जीवन चलाता था और इसीलिए सोनार बांग्ला कहलाता था।

लेकिन धीरे-धीरे चार कोसी झाड़ी गई। हृद और चौर चले गए। कम हिस्से में अच्छी खेती करते थे, उसको लालच में थोड़े बड़े हिस्से में फैला कर देखने की कोशिश की। और हम अब बाढ़ में डूब जाते हैं। बस्तियां कहां बनेंगी, कहां नहीं बनेंगी, इसके लिए बहुत अनुशासन होता था। चौर के क्षेत्र में केवल खेती होगी, बस्ती नहीं बसेगी— ऐसे नियम टूट चुके हैं तो फिर बाढ़ भी नियम तोड़ने लगी है। उसे भी धीरे-धीरे भूल कर चाहे आबादी का दबाव कहिए या अन्य अनियंत्रित विकास के कारण — अब हम नदियों के बाढ़ के रास्ते में अपना सामान रखने लगे हैं, अपने घर बनाने लगे हैं। इसलिए नदियों का दोष नहीं है। अगर हमारी पहली मंजिल तक पानी भरता है तो इसका एक बड़ा कारण नदी के रास्ते में विकास करना है।

एक और बहुत बड़ी चीज पिछले दो-एक सौ साल में हुई है। वह है— तटबंध और बांध। छोटे से लेकर बड़े बांध बड़े-बड़े तटबंध इस इलाके में बनाए गए हैं, बगैर इन नदियों का स्वभाव समझे। नदियों की धारा इधर से उधर न भटके — यह मान कर हमने एक नए भटकाव के विकास की योजना अपनाई है। उसको तटबंध कहते हैं। ये बांग्लादेश में भी बने हैं और इनकी लंबाई सैकड़ों मील तक जाती है। आज पता चलता है कि इनसे बाढ़ रुकने के बजाय बढ़ी है, नुकसान ही ज्यादा हुआ है। अभी तो कहीं-कहीं ये एकमात्र उपकार यह करते हैं कि एक बड़े इलाके की आबादी जब डूब से प्रभावित होती है, बाढ़ से प्रभावित होती है तो लोग इन तटबंधों पर ही शरण लेने आ जाते हैं। जो बाढ़ से बचाने वाली योजना थी वह केवल शरणस्थली में बदल गई है। इन सब चीजों के बारे में सोचना चाहिए। बहुत पहले से लोग कह रहे हैं कि तटबंध व्यावहारिक नहीं हैं। लेकिन हमने देखा है कि पिछले सौ डेढ़ सौ साल में हम लोगों ने तटबंधों के सिवाय और किसी चीज में पैसा नहीं लगाया है, ध्यान नहीं लगाया है।

बाढ़ आने वाले वर्षों में भी आएगी। यह अतिथि नहीं है। इसकी तिथियां तय हैं और हमारा समाज इससे खेलना जानता था। लेकिन अब हम जैसे-जैसे

ज्यादा विकसित होते जा रहे हैं, इसकी तिथियां और इसका स्वभाव भूल रहे हैं। इस साल कहा जाता है कि बाढ़ राहत में खाना बांटने में, खाने के पैकेट गिराने में हेलीकॉप्टरों का जो इस्तेमाल किया गया, उसमें चौबीस करोड़ रुपए का खर्च आया था। शायद इस लागत से सिर्फ दो करोड़ रुपए की रोटी-सब्जी, पुरी बांटी गई थी। ज्यादा अच्छा होता कि इस इलाके में चौबीस करोड़ के हेलीकॉप्टर के बदले हम कम-से-कम बीस हजार नावें तैयार रखते और मछुआरे, नाविकों, मल्लाहों को सम्मान के साथ इस काम में लगाते। यह नदियों की गोदी में पला-बढ़ा समाज है। इसे बाढ़ भयानक नहीं दिखती। अपने घर की, परिवार की सदस्य की तरह दिखती है— उसके हाथ में हमने बीस हजार नावें छोड़ी होतीं।

इस साल नहीं छोड़ी गई तो अगले साल इस तरह की योजना बन सकती है। नावें तैयार रखी जाएं— उनके नाविक तैयार हों, उनका रजिस्टर तैयार हो, जो वहां के जिलाधिकारी या इलाके की किसी प्रमुख संस्था या संगठन के पास हो, उसमें किसी राहत की सामग्री कहां-कहां से रखी जाएगी, यह सब तय हो। और हरेक नाव को निश्चित गांवों की संख्या दी जाए। डूब के प्रभाव को देखते हुए, पुराने अनुभव को देखते हुए, उनको सबसे पहले कहां-कहां अनाज या बना-बनाया खाना पहुंचाना है— इसकी तैयारी हो। तब हम पाएंगे कि चौबीस करोड़ के हेलीकॉप्टर के बदले शायद यह काम एक या दो करोड़ में कर सकेंगे और इस राशि की एक-एक पाई उन लोगों तक जाएगी जिन तक बाढ़ के दिनों में उसे जाना चाहिए।

बाढ़ आज से नहीं आ रही है। अगर आप बहुत पहले का साहित्य न भी देखें तो देश के पहले राष्ट्रपति राजेंद्र बाबू की आत्मकथा में छपरा की भयानक बाढ़ का उल्लेख मिलेगा। उस समय कहा जाता है कि एक ही घंटे में छत्तीस इंच वर्षा हुई थी और पूरा छपरा जिला पानी में डूब गया था। तब भी राहत का काम हुआ और तब पार्टी के कार्यकर्ताओं ने सरकार से आगे बढ़ कर काम किया था। उस समय भी आरोप लगे थे कि प्रशासन ने इसमें कोई खास मदद नहीं दी। आज भी ऐसे आरोप लगते हैं, ऐसी ही बाढ़ आती है। तो चित्र बदलेगा नहीं। बड़े नेताओं की आत्मकथाओं में इसी तरह की लाइनें लिखी जाएंगी और अखबारों में भी इसी तरह की चीजें छपेंगी। लेकिन हमें कुछ विशेष करके दिखाना है तो हम लोगों को नेपाल, बिहार, बंगाल और

बांग्लादेश — सभी को मिल कर बात करनी होगी। पुरानी स्मृतियों में बाढ़ से निपटने के क्या तरीके थे, उनका फिर से आदान-प्रदान करना होगा। उन्हें समझना होगा और उन्हें नई व्यवस्था में हम किस तरह से ज्यों-का-ज्यों या कुछ सुधार कर अपना सकते हैं, इस पर ध्यान देना होगा।

जब शुरू-शुरू में अंग्रेजों ने इन इलाकों में नहरों का, पानी का काम किया, तटबंधों का काम किया तब भी उनके बीच में एक-दो ऐसे सहृदय, समझदार और यहां की मिट्टी को जानने-समझने वाले अधिकारी थे, जिन्होंने ऐसा माना था कि जो कुछ किया गया है, उससे यह इलाका सुधरने के बदले और अधिक बिगड़ा है। इस तरह की चीजें हमारे पुराने दस्तावेजों में हैं। सन् 1853 में भारत में ही एक नहर, नदी के किनारे लगे एक तंबू में जन्में सर विलियम विलकॉक्स नामक एक अंग्रेज इंजीनियर ने 77 वर्ष की उम्र में सन् 1930 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रांगण में तीन भाषण इसी विषय पर दिए थे। इन्होंने मिस्र जैसे रेगिस्तान में भी पानी का काम किया था और बिहार, बंगाल जैसे विशाल नदी प्रदेश में भी। सर विलियम तब से कहते आ रहे हैं कि विकास के नाम पर इन हिस्सों में जो कुछ भी किया गया है, उसमें बाढ़ और बढ़ी है, घटी नहीं है।

इसी तरह बंगाल में मुख्य इंजीनियर रहे श्री एस. सी. मजुमदार ने भी बंगाल की नदियों पर खूब काम किया था। उन्होंने भी बार-बार यही कहा था कि इन नदियों को समझो। फिर आजादी के बाद इस क्षेत्र में जब दामोदर नदी पर बांध बनाया जा रहा था तो उसी विभाग में काम कर रहे इंजीनियर श्री कपिल भट्टाचार्य ने भी इन्हीं बातों को लगभग भविष्यवाणी की तरह देश के सामने रखा था। आज भी इन बातों को श्री दिनेश कुमार मिश्र जैसे इंजीनियर शासन, समाज के सामने रख रहे हैं। इस साल बिहार की बाढ़ ने एक बार फिर जोर से कहा है कि इन बातों को कब समझोगे। नहीं तो उत्तर बिहार की बाढ़ का प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। हम उसका उत्तर नहीं खोज पाएंगे। कब बूझोगे। तभी कोई रास्ता निकलेगा।

*सन् दो हजार चार में उत्तर बिहार में कोसी नदी में
आई बाढ़ पर लिखा गया लेख।*

ना जा स्वामी परदेसा

ढोंड गांव के पंचायत भवन में छोटी-छोटी लड़कियां नाच रही थीं। उनके गीत के बोल थे: ठंडो पानी मेरा पहाड़ मा, ना जा स्वामी परदेसा। ये बोल सामने बैठे पूरे गांव को बरसात की झड़ी में भी बांधे हुए थे। भींगते दर्शकों में ऐसी कई युवा और अधेड़ महिलाएं थीं, जिनके पति और बेटे अपने जीवन के कई बसंत 'परदेस' में ही बिता रहे हैं। ऐसे वृद्ध भी इस कार्यक्रम को देख रहे थे, जिनने अपने जीवन का बड़ा भाग 'परदेस' की सेवा में लगाया था। और भीगी दरी पर वे छोटे-बच्चे भी थे, जिन्हें शायद कल परदेस चले जाना है।

एक गीत पहाड़ों के इन गांवों से लोगों का पलायन भला कैसे रोक पाएगा? लेकिन गीत गाने वाली टुकड़ी गीत गाती जाती है। आज ढोंड गांव में है तो कल डुलमोट गांव में। फिर जन्द्रिया में, भरनों में, उफरैखाल में। यह केवल सांस्कृतिक आयोजन नहीं है। इसमें कुछ गायक हैं, नर्तक हैं, एक हारमोनियम, ढोलक है तो सैकड़ों कुदाल-फावड़े भी हैं, जो हर गांव में कुछ ऐसा काम रहे हैं कि वहां बरसकर तेजी से बह जाने वाला पानी वहां कुछ थम सके, तेजी से बह जाने वाली मिट्टी वहीं रुक सके और इन गांवों में उजड़ गए वन, उजड़ गई खेती फिर से संवर सके। आधुनिक विकास की नीतियों ने यहां के जीवन की जिस लय को, संगीत को बेसुरा किया है, उसे फिर से सुरीला बनाने वालों की टोली है यह दूधातोली की।

पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड के दूधातोली इलाके के उफरैखाल में आज से कोई 21 बरस पहले बनी यह छोटी-सी टोली आज यहां के कोई 100 गांवों में फैल गई है और इस क्षेत्र में अपने काम को खुद करने का वातावरण बना रही है। अपने काम में हैं: अपने वन, अपना पानी, अपना चारा, अपना ईंधन और अपना माथा, स्वाभिमान।

इस टोली के विनम्र नायक हैं शिक्षक सच्चिदानंद भारती। वे उफरैखाल के इंटर कॉलेज में पढ़ाते हैं। सन् 1979 में वे चमोली जिले के गोपेश्वर महाविद्यालय में पढ़ रहे थे। उसी दौर में वहां प्रसिद्ध चिपको आंदोलन ने जन्म लिया था। भारती ने अपनी कॉलेज की पढ़ाई के अलावा उस दौर में एक सजग छात्र के नाते पहाड़ के जीवन के पर्यावरण की पढ़ाई में भी पूरी निष्ठा से रुचि ली थी। वे चिपको आंदोलन के जनक श्री चंडीप्रसाद भट्ट के साथ आंदोलन के कई मोर्चों पर लड़े भी थे और बाद में उसके रचनात्मक पक्ष में भी सक्रिय रहे थे। संघर्ष और रचना का संयुक्त पाठ उन्होंने वहीं से सीखा था।

सन् 1979 में अपनी पढ़ाई पूरी कर वे पौड़ी जिले में अपने गांव गाडखरक, उफरैखाल लौटे थे। उन्हीं दिनों उन्हें गांव में खबर मिली कि उत्तराखंड के मध्य में स्थित दूधातोली क्षेत्र में वन विभाग फर-रागा के पेड़ों का कटान कर रहा है। हिमालय में रागा प्रजाति भोजवृक्ष की तरह ही धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। पुराने पेड़ जा रहे हैं और जो नए पौधे पनपने चाहिए, वे पनप नहीं पा रहे हैं।

श्री भारती को लगा कि इस कटान को तो हर कीमत पर रोकना चाहिए। वे अपने कुछ साथियों के साथ दूधातोली वन क्षेत्र से जुड़े गांवों की ओर चल पड़े। गांवों में पदयात्रा के माध्यम से जगह-जगह लोगों को यह समझाने की कोशिश की गई कि यह वन सरकार का जरूर है पर इसके कटान का, इसके विनाश का पहला बुरा झटका गांवों को भोगना पड़ेगा। यह वन भले ही हमारा न हो पर विनाश हमारा ही होगा। सब लोग साथ दें तो इस विनाश को रोका जा सकता है।

लोगों की जागृति का, एक जुट होने का यह किस्सा काफी पुराना और लंबा भी है। यहां उसे दुहराना आवश्यक नहीं है। बस इतना ही बता देना काफी है कि कई बार अच्छे ढंग से रखी गई बात सरकार और उसके अधिकारी भी समझ लेते हैं और हमेशा संघर्ष, टकराव का रास्ता लेना जरूरी नहीं होता। दूधातोली में भी यही हुआ।

ऐसी घटना उस क्षेत्र के लिए नई थी। इससे दो बातें निकलीं— एक तो यह कि लोग एक हो जाएं तो सरकार के गलत कामों, निर्णयों को भी रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। और दूसरी यह कि अब जब एक बड़े

विनाश को रोक ही लिया गया है तो फिर इसी स्थान से वनों के संवर्धन का काम क्यों न शुरू किया जाए।

एक पर्यावरण शिविर रखा गया। आसपास और कुछ दूर के लोगों को, गांवों को उफरैखाल आने का न्योता दिया गया। सड़कों से बहुत दूर छोटा-सा गांव, हाथ में न कोई साधन, न कोई संपर्क। शिविर तो रख लिया पर इसके लिए पैसा चाहिए था। भोजन आदि पर कुछ तो खर्च होगा ही। किससे पूछें, किससे मांगें? नई दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान को पत्र लिखा। एक हजार रुपए वहां से आए।

इस तरह जुलाई 1980 में दूधातोली क्षेत्र में पहला पर्यावरण शिविर संपन्न हुआ। लोगों ने अपने-अपने क्षेत्र की परिस्थिति, वनों की स्थिति, कहां क्या कितना उजड़ गया है आदि बातें एक दूसरे के सामने रखीं। जो घटनाएं चुपचाप घट रही थीं, उनका मौन तो टूटा। शिविर के अंत में सबने पास के वन क्षेत्र में जाकर पौधों का रोपण किया।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिविर से एक नए विचार का पौधा लगा इस तरह। तब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाएगा और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएंगे।

इस काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सन् 1982 में एक संस्था बनी: 'दूधातोली लोक विकास संस्थान'। स्थापना के समय ही कुछ बातें तय की गई थीं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण संवर्धन का काम तो करना ही है तो इसमें संस्था का आधार वहीं के लोग तथा देसी साधन हों, इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा। यह भी योजना बनी कि शिविरों के माध्यम से यह सब काम किया जाएगा। जल्दी ही समझ में आ गया कि वनीकरण करना है तो अपनी जरूरत के पौधे भी तैयार खुद ही करने पड़ेंगे। संस्था बनाने में शिक्षकों की भूमिका प्रमुख थी, इसलिए आगे की योजनाओं में उनका ध्यान सबसे पहले अपने छात्रों की तरफ गया। तब स्कूलों में पर्यावरण संवर्धन एक विषय की तरह नहीं आया था। पर यहां तो यह पढ़ाई का नहीं, जीवन का एक अंग बन गया।

छात्रों ने अपने शिक्षकों की प्रेरणा से तरह-तरह के बीजों का संग्रह प्रारंभ किया। सबसे पहले इन लोगों ने अखरोट के पौधों की एक नर्सरी बनाई। इन पौधों की बिक्री प्रारंभ हुई। वहीं के गांवों से वहीं की संस्था को पौधों की

विक्री से कुछ आमदनी होने लगी। यह राशि फिर वहीं लगने जा रही थी। छोटे-छोटे साधनों से एक बड़े साध्य को साधने की एक लंबी यात्रा का प्रारंभ हुआ। एक के बाद एक शिविर लगते गए और उजड़े वन क्षेत्रों में धीरे-धीरे वनीकरण होने लगा।

इन शिविरों में रस्म पूरी नहीं की जाती थी। पूरा काम करने के लिए ये लगते थे, इसलिए कभी-कभी तो इनकी अवधि दस दिन तक भी होती। कभी ये वन क्षेत्र में लगते तो, कभी गांवों के स्कूल में, पंचायत भवन में। ध्यान रखा जाता कि स्थान सार्वजनिक हो ताकि सभी लोग इनमें आ सकें। शिविर कहीं भी लगें, इनमें आसपास के पांच-दस गांवों के स्त्री-पुरुषों, बच्चों को जोड़ने की कोशिश होती थी। चूंकि शिविरों का मुख्य विषय ही घास, जंगल, पानी, खेती आदि हुआ करता— इसलिए धीरे-धीरे इनसे महिलाएं जुड़ती चली गईं। फिर इन्हीं शिविरों में हुई बातचीत से यह भी निर्णय सामने आया कि हर गांव में अपना वन बने। वह सघन भी बने ताकि ईंधन, चारे आदि के लिए महिलाओं की सुविधा बढ़ सके। इस तरह हर शिविर के बाद उन गांवों में महिलाओं के अपने नए संगठन उभर आए। ये महिला मंगल दल कहलाए।

ये महिला दल कागजी नहीं थे। कागज पर बने ही नहीं थे। कोई लेखा-जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिविर चलाने वाली मुख्य मानी गई संस्था दूधातोली के कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गांवों में धीरे-धीरे ऊंचे उठ रहे सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती है।

प्रतिदिन दल की सदस्याएं बारी-बारी से वन की रखवाली करती हैं। रखवाली का तरीका अपने आप में अनोखा और सुरीला, संगीतमय है।

एक लाठी है। लेकिन यह साधारण लाठी नहीं है। इसके ऊपरी सिरे पर बड़े आकार के दो-चार घुंघरू लगे हैं। इस लाठी का नाम है खांकर। खांकर लेकर महिलाएं वन में रखवाली करती हैं। हर कदम पर लाठी जमीन पर लगती है और खांकर के घुंघरू खनक जाते हैं। एक खांकर की संगीतमय ध्वनि वन की घनी चुप्पी को तोड़ती वन के दूसरे भागों में इसी तरह रखवाली कर रही अन्य महिलाओं को एक दूसरे से जोड़े रखती है। यह

संगीतमय लाठी एक अन्य सुरीली व्यवस्था का भी अंग है। सांझ को वन की रखवाली के बाद महिलाएं गांव वापस आती हैं और अपनी खांकर अपने घर के दरवाजे के आगे न रख किसी अन्य महिला के दरवाजे पर टिका देती हैं। इसका अर्थ है कल उस घर की महिला खांकर लेकर वन रखवाली के लिए निकलेगी। अपने बच्चों की तरह पाल पोसकर खड़े किए वनों की रखवाली, निगरानी, सार संभाल का यह घरेलू तरीका आज दूधातोली क्षेत्र के कोई 136 गांवों में बड़े नियम से, स्व-अनुशासन से चल रहा है। प्रायः पगडंडियों से बंटे और पहाड़ों की चोटियों, घाटियों में एक दूसरे से मीलों दूर बसे ये गांव बिना बाहरी पैसे के, आदेश के अपने दम पर खांकर के संगीत से जुड़ते गए।

इन शिविरों का आयोजन हमेशा बड़ी सरलता से होता रहा हो— ऐसा नहीं है। बीच के कई वर्ष बड़ी कठिनाई के वर्ष थे। कहीं से भी कोई मदद नहीं थी। पर शिविरों की और काम की कड़ी कभी टूटने नहीं दी गई। गांवों ने अपने सीमित साधनों से इस असीमित काम को जारी रखने की बराबर कोशिश की।

1993 में प्रारंभ में सच्चिदानंद भारती ने अपने क्षेत्र में वनों के साथ पानी की परंपरा को भी समझना प्रारंभ किया। पहाड़ों में ताल तो आज भी हैं। इनकी संख्या तेज ढलानों के कारण कम ही रही है। पर खाल और चाल नामक दो और रूप भी यहां रहे हैं। वे पिछली सदी में लगभग मिट गए थे। दूधातोली का उफरेंखाल नाम स्वयं इस बात का प्रतीक था कि कभी यहां पानी का अच्छा प्रबंध रहा होगा। खाल ताल से छोटा रूप है तो चाल खाल से भी छोटा। ये ऊंचे पहाड़ों की तीखी ढलानों पर भी बनती रही हैं। पर अब तो ये सामने थी नहीं। नया काम कैसे करें? किसी को कुछ पता नहीं था। इसलिए कुछ आपसी बातचीत, कुछ अंदाज, कुछ प्रयोग से वनों के संवर्धन के साथ पहाड़ों में जल संरक्षण के काम को जोड़ा। एक से एक जुड़ा तो योग दो न होकर ग्यारह हो गया। इकाई से इकाई मिली और दहाई परिणाम सामने आने लगे।

दूधातोली क्षेत्र में चाल बनाने का काम गाडखरक गांव से, उफरेंखाल से प्रारंभ हुआ पर फिर तो यह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। आज इस क्षेत्र में कोई 35 गांव में खाली पड़ी बंजर जमीन पर, पानी की कमी से

उजड़ गए खेतों में और अच्छे घने वनों तक में कोई 7000 चालें वर्ष भर चांदी की तरह चमकती हैं। उत्तराखंड में जब सन् 1999 में सभी जगह पानी की बेहद कमी थी, अकाल पड़ रहा था, तब दूधातोली क्षेत्र में अप्रैल, मई, जून के महीनों में भी चालों में लबालब पानी भरा रहा। आज सन् 2010 में इस इलाके में कोई 20,000 छोटी-बड़ी चाल बन चुकी हैं।

चालों के चलन की फिर से वापसी ने इस क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किए हैं। उजड़े खेतों में फिर से फसल लगाने की तैयारी हो रही है। बंजर वन भूमि में साल भर पानी रहने के कारण प्रकृति स्वयं अपने अनेक अदृश्य हाथों से उसमें घास और पौधे लगा रही है तो ठीक पनप चुके वनों में और अधिक सघनता आ रही है। घास, चारा, ईंधन और पानी— इनके बिना पर्वतीय व्यवस्था चरमरा गई थी। आज यहां फिर से जीवन का मधुर संगीत वापस लौट रहा है। **‘घास, जंगल, खेत, पानी— यों के बिना योजना कानी’** का नारा भी यहां चलता है।

चाल का जो काम जंगलों में आग की तरह फैला है, उसने जंगलों की आग को भी समेटने में अद्भुत भूमिका निभाई है। उत्तराखंड और देश के अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में हर वर्ष गरमी के महीनों में वनों में बड़े पैमाने पर आग लगने की घटनाएं होती हैं। इन्हें बुझाने का कोई कारगर तरीका अभी तक वन विभाग के हाथ नहीं आया है। जब भी इस विषय पर बहस होती है तो हमारा वन विभाग रूस, ग्रीस, स्पेन, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के वन क्षेत्रों का उदाहरण देकर हेलिकॉप्टरों के उपयोग की वकालत करता है। वह यह भूल जाता है कि वहां हेलिकॉप्टरों से भी आग नहीं बुझती है। ये घटनाएं हर साल बढ़ती ही जा रही हैं।

वनों में आग एक बड़ी समस्या है। वर्षा के दिनों में बरसा पानी पहाड़ की चोटियों से नीचे घाटी में, नदी में चला जाता है। फिर ठंड का मौसम तो ठीक बीतता है पर गरमी की ऋतु आते ही सारा वन क्षेत्र तप जाता है। घास सूख जाती है और वन के वन सूखी घास के ढेर पर बस जरा-सी एक चिनगारी का इंतजार करते रहते हैं। मई 1998 में कोई 80,000 हेक्टेयर वन क्षेत्र आग में स्वाहा हुआ था। आज देश में प्रतिवर्ष वनों की आग से कोई 450 करोड़ रुपए की हानि होती है। लेकिन कीमती वन, पेड़-पौधे, घास, चारा और वन्य जीव के उस नुकसान को आप सरकारी आंकड़ों में, रुपयों

में नहीं नाप सकते। प्रकृति की वर्षों की मेहनत, समाज के लिए पीढ़ियों की सुविधा, अकाल, बाढ़ से रक्षा का सर्वोत्तम कवच— सब कुछ देखते ही देखते राख हो जाता है।

दूधातोली में जब से पानी का, चाल और खाल का काम प्रारंभ हुआ है, तब से यहां के वन आग से सुरक्षित हो चले हैं। सभी ग्राम वनों में बनी चालों के कारण उनमें गर्मी के तपते मौसम में भी नमी और इस कारण हरियाली बनी रही है, आग नहीं लग पाती। कहीं आग लग भी जाए तो यह लाचारी नहीं होती कि अब इसे कैसे बुझाया जाए। भरनों नामक गांव के अपने पाले वन में, मई 1998 में आग जरूर लगी थी पर चालों की उपस्थिति के कारण वह जल्दी ही नियंत्रण में आ गई थी। पर इसी गांव के पास का सरकारी वन आग से बच नहीं पाया था। इसी तरह जन्द्रिया गांव का सरकारी वन भी आग की भेंट चढ़ा था। यहां वन विभाग वनों को आग से बचाने की अपील करने वाले बोर्ड लगाने तो आता है पर आग बुझाने नहीं आ पाता। इन गांवों में लोगों ने चाल बनाकर अपने वन सुरक्षित किए हैं और शासकीय वनों में लगी आग को भी अपनी चालों के पानी से बुझाने का प्रयास किया है। सन् 1998 की मई में ऐसे प्रयासों में गांव की तीन महिलाएं आग बुझाते हुए स्वयं झुलस गई थीं और उन्हें बचाया नहीं जा सका था।

इन चालों ने या अब जिन्हें यहां जल-तलाई भी कहा जाने लगा है, गांव में शासकीय जल प्रदाय योजनाओं को भी नया जीवन दिया है। उत्तराखंड के अनेक गांवों में पानी की कमी होने लगी है। हिमालय पानी का, नदियों का मायका भी कहलाता है। पर पानी के मायके में ही पानी नहीं बच पाता था। 'स्वजल' जैसी खर्चीली योजनाओं ने भी पैसा खूब बहाया पर पानी नहीं बह पाया है। एक सीमित क्षेत्र में ही सही पर लोगों की चालों ने यहां पानी का प्रश्न हल करके दिखाया है। अब पूरे वर्ष भर पानी खूब है। चालों ने सूख चुके नालों को, छोटी नदियों को, गदरों को भी सरस कर दिया है।

उफरैखाल के वन से निकलने वाली सूखारौला नदी वर्षा में उफन जाती थी और फिर नवंबर में ही सूख जाती थी। इसलिए इसका नाम ही सूखारौला पड़ चुका था। यहां सन् 1993 से 1998 तक कोई 1000 जल तलाई बनी होंगी— इन सबमें संचित जल की एक-एक बूंद ने सूखारौला का स्वभाव

बदला। सूखे दिनों में भी उसमें पानी था। पर गांव ने धीरज रखा, एकदम नाम नहीं बदला। जब जनवरी 2001 में भी सूखारौला सूखा नहीं तो कृतज्ञ गांव ने इसका नया नाम रखने का निर्णय लिया। क्या होगा नया नाम? नया नाम रखना कोई आसान काम नहीं था। पर इस कठिन काम को गांव ने अपनी श्रद्धा से गंगा के साथ जोड़ना ही उचित समझा। गांव का नाम गाडखरक तो नई नदी हो गई गाडगंगा। आज गाडगंगा वर्ष भर बहती है और फिर पसोली नदी में मिलकर उसे और भी समृद्ध कर रही है।

हिमालय के इन गांवों को उदारता से इतना लाभ बांटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहां भी ठीक जगह मिली वहां 5 से 10 घनमीटर के आकार की जल-तलाई बनाई जाती है। यह अपने आपसे कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल-तलाई की श्रृंखला में छिपा है। जब ऊपर से नीचे तक पूरे ढलान को अनेक जल-तलाई अपने छोटे-छोटे आकार से ढक देती हैं तब पानी का अक्षय भंडार बन जाता है। पानी पहाड़ी ढलानों में यहां-वहां से बहता है, इसलिए जल-तलाई भी यहां-वहां ही बनाई जाती हैं और इस तरह हर जगह पानी एकत्र होता जाता है। इन सबमें संग्रहित पानी धीरे-धीरे रिसकर नीचे घाटी तक आता है। यहां घाटी में चालों से बड़े ढांचे, यानी खाल या ताल बनाए गए हैं। इनमें भी अब पूरे वर्ष पानी का भंडार बना रहता है।

चाल छोटी है आकार में और लागत में भी। कोई 50 से 100-200 रुपए में एक चाल बन जाती है। बनाने वाले इसे अपना काम मानकर बनाते हैं। इसलिए 50-100 की मदद भी कम नहीं मानते। वे इसे बनाते समय अपने को किसी का मजदूर नहीं मानते। वे इसके मालिक हैं और उनके स्वामित्व से सामाजिक समृद्धि साकार होती है। ऐसी सुदृढ़ समृद्धि पूरे समाज का आत्मविश्वास बढ़ाती है। उनका माथा ऊंचा करती है। तब यदि अचानक कोई बड़ी लेकिन अव्यावहारिक योजना वहां आ जाए तो लोगों के पैर नहीं डगमगाते।

एक ऐसी ही योजना सन् 1998 में इस क्षेत्र की पूर्वी नयार घाटी में आई थी। जलागम विकास का काम था। समर्थन था विश्व बैंक जैसी संपन्न संस्था का। पर इन गांवों ने उसका समर्थन नहीं किया।

काम तो वही था जिसे ये गांव कर ही रहे थे— वनों का विकास। जलागम क्षेत्र का विकास। पैसे की कोई कमी नहीं थी। पूरी परियोजना की लागत 90 करोड़ रुपए थी। गांव-गांव में जब इस योजना का बखान करने वाले बड़े-बड़े बोर्ड लग गए तब सच्चिदानंद भारती ने वन विभाग के जिम्मेदार अधिकारियों को एक छोटा-सा पत्र भर लिखा था। उसमें उन्होंने बहुत विनम्रता से बताया था कि इस क्षेत्र में वनों का, पानी का अच्छा काम गांव खुद ही कर चुके हैं— बिना बाहरी, विदेशी या सरकारी मदद के। तब यहां इन 90 करोड़ रुपयों से और क्या काम करने जा रहे हैं आप? भरोसा न हो तो कुछ अच्छे अधिकारियों का एक दल यहां भेंजें, उससे जांच करवा लें और यदि हमारी बात सही लगे तो कृपया इस योजना को यहां से वापस ले लें।

शायद देश में पहली बार ही ऐसा हुआ होगा कि सचमुच वन विभाग का एक दल यहां आया और इस क्षेत्र में पहले से ही लगे, पनपे और पाले गए सुंदर घने वनों को देखकर न सिर्फ चुपचाप लौट गया, बल्कि अपने साथ 90 करोड़ की योजना भी समेट ले गया।

वनों के गांव, हिमालय के कुछ थोड़े से गांव तय कर लें तो वे बिना बाहरी मदद, विदेशी पैसे, सरकारी पैसे के अपने और अपने थोड़े से शुभचिंतकों के सहारे से कोई एक शताब्दी की गलतियों को 20 वर्षों में सुधार कर कितना बड़ा काम खड़ा कर दिखा सकते हैं। इसमें केवल उत्तराखंड ही नहीं, सभी पर्वतीय क्षेत्रों के सुधार के बीज छिपे हैं।

पर्वत जैसे इस साध्य को पाने के लिए दूधातोली लोक विकास संस्थान के कार्यकर्ताओं ने साधनों के संबंध में भी एक अलग ही साधना की है। 136 गांवों में ऐसा सुंदर काम करने वाली संस्था में केवल पांच कार्यकर्ता हैं।

प्रमुख हैं श्री सच्चिदानंद भारती। ये उफरैखाल के इंटर कॉलेज में शिक्षक हैं। वेतन शिक्षा विभाग से मिलता है। बच्चों को प्रेम से पढ़ाते हैं और बचे हुए समय में पूरे समय ही समाज सेवा करते हैं। भारती ने शिक्षा को, समाज की सेवा की शिक्षा को सचमुच छोटे से स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकाल पूरी पट्टी में नीचे घाटियों से लेकर ऊपर की चोटियों तक फैलाया है। दूसरे कार्यकर्ता श्री दिनेश हैं। संस्था के अब ये मंत्री हैं। ये उफरैखाल गांव में ही दवाओं की एक छोटी-सी दुकान चलाते हैं। जब भी

समाज का, संस्था का काम आता है, वे दवा की दुकान का शटर गिराकर सेवा का द्वार खोल लेते हैं। वे भी संस्था से वेतन नहीं लेते। तीसरे कार्यकर्ता हैं श्री दीनदयालजी। वे जीविका के लिए डाकिए का काम करते हैं। डाक भी बांटते हैं और साथ-साथ दूधातोली संस्थान के माध्यम से लोगों का दुख दर्द भी बांट लेते हैं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण के संवर्धन की पाती, चिट्ठी भी दूर-दूर पैदल पहुंचाते हैं। और उनकी इस पाती को सब पढ़ते हैं। चौथे हैं विक्रमजी। ये भी गांव डुलमोट में अपनी पैतृक पनसारी दुकान का काम देखते हैं। पांचवें हैं हरिसिंहजी। ये खेती करते हैं। और फिर कोई सौ गांवों में फैले हैं संस्था के स्वयंसेवक। इनकी संख्या होगी लगभग एक हजार। इनमें उन महिलाओं की संख्या कोई पांच सौ होगी जो सुबह से शाम तक खांकर लेकर अपने वनों की रखवाली करती हैं।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था। और भी समाजसेवी संस्थाएं ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ-साथ जरूरत आ पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती हैं। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

साधनों को जुटाने और उन्हें इतनी किफायत से खर्च करने का असर दूसरों पर भी पड़ता है। संस्था रजिस्टर्ड है। हर वर्ष उसे अपनी आमदनी और खर्च का ऑडिट करना पड़ता है। लेकिन इस काम को करने वाले ऑडिटर इस संस्था के लिए अपनी सेवाएं निशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी ऑडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के छोटे-बड़े अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते हैं। सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है।

इस क्षेत्र के ये गांव कोई 4000 फुट से 7000 फुट की ऊंचाई पर बसे हैं। साल भर मौसम खूब ठंडा रहता है। ठंड के मौसम में अधिकांश भाग बर्फ की चादर से ढंक जाता है। ऐसे ठंडे क्षेत्रों में वनस्पति का विस्तार भी बहुत धीरे-धीरे होता है। और कीमती उपजाऊ मिट्टी भी धीरे-धीरे ही बन पाती है। लेकिन तीखी ढलानों के कारण वर्षा के मौसम में इस कीमती मिट्टी को नीचे मैदान की ओर बहने में जरा भी देरी नहीं लगती। तेज बहता पानी अपने साथ और भी तेजी से मिट्टी काटकर, बहाकर ले जाता है। ऐसे में मिट्टी और पानी का संरक्षण दो-चार साल का नहीं, कुछ सदियों का काम बन जाता है।

दूधातोली का यह काम इसलिए बहुत ही धीरज के साथ खड़ा किया गया है। इसमें लक्ष्य संख्या, आंकड़ों या पैसों, रुपयों का नहीं, चुपचाप काम का रखा गया है। इसलिए दूधातोली का यह दल शायद ही कभी अपना क्षेत्र छोड़ बाहर निकल पाता है। बाहर के लोग, कुछ मित्र, शुभचिंतक यहां कभी-कभी ही आ पाते हैं। तब उनका बहुत ही आत्मीय स्वागत होता है। देवपूजन में काम आने वाली पैया की पत्ती की सादी लेकिन भव्य माला में बुरांस का एकाध फूल पूरे गांव की आतिथ्य भावना को आनंद में बदल देता है। खेत और वनों के फूल शिवियों को नए ढंग से रंग देते हैं। संगीत टुकड़ी का स्वर, ढोल नगाड़े, रणसिंगे पूरी घाटी में गूंजने लगते हैं। मिट्टी और पानी को 'परदेस' जाने से रोकने के लिए।

मध्यप्रदेश शासन ने सन् दो हजार ग्यारह का अपना प्रतिष्ठित राष्ट्रीय महात्मा गांधी सम्मान दूधातोली लोक विकास संस्थान को प्रदान किया है। उसी अवसर पर लिखा गया लेख।

अकेले नहीं आते बाढ़ और अकाल

आज से कोई सौ बरस पुरानी घटना है। वह घटना यदि घटी न होती तो शायद हम आज यहां एकत्र भी न हो पाते।

सन् 1910 का किस्सा है। राजेन्द्र बाबू तब कलकत्ता में वकालत पढ़ रहे थे। यहां एक दिन उन्हें उस दौर के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री परमेश्वर लाल ने बुलाया था। वे कुछ समय पहले ही गोखलेजी से मिले थे। बातचीत में गोखलेजी ने उनसे कहा था कि वे यहां के दो-चार होनहार छात्रों से मिलना चाहते हैं। परमेश्वरजी ने सहज ही राजेन्द्र बाबू का नाम सुझा दिया था।

राजेन्द्र बाबू गोखलेजी से मिलने गए, अपने एक मित्र श्रीकृष्ण प्रसाद के साथ। सर्वेक्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना अभी कुछ ही दिन पहले हुई थी। गोखलेजी उस काम के लिए हर जगह कुछ अच्छे युवकों की तलाश में थे। उन्हें यह जानकारी परमेश्वरजी से मिल गई थी कि ये बड़े शानदार विद्यार्थी हैं। वकालत उन दिनों ऐसा पेशा था जो प्रतिष्ठा और पैसा एक साथ देने लगा था। इस धंधे में सरस्वती और लक्ष्मी जुड़वां बहनों की तरह आ मिलती थीं।

कोई डेढ़ घंटे चली इस पहली ही मुलाकात में राजेन्द्र बाबू से श्री गोखले ने सारी बातों के बाद आखिर में कहा था, “हो सकता है तुम्हारी वकालत खूब चल निकले। बहुत रुपए तुम पैदा कर सको। बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी इत्यादि दिखावट का सामान सब जुट जाए। और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो तो इसलिए तुम पर वह दावा और भी अधिक है।”

गोखलेजी थोड़ा रुक गए थे। कुछ क्षणों के उस सत्राटे ने भी राजेन्द्र बाबू के मन में न जाने कितनी उथल-पुथल पैदा की होगी। वे फिर बोलने लगे: “मेरे सामने भी यही सवाल आया था, ऐसी ही उमर में। मैं भी

एक साधारण गरीब घर का बेटा था। घर के लोगों को मुझसे बहुत बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं। उन्हें लगता था कि मैं पढ़कर तैयार हो जाऊंगा, रुपए कमाऊंगा और सबको सुखी बना सकूंगा। पर मैंने उन सबकी आशाओं पर पानी फेर कर देशसेवा का व्रत ले लिया। मेरे भाई इतने दुखी हुए कि कुछ दिनों तक तो वे मुझसे बोले तक नहीं। हो सकता है यही सब तुम्हारे साथ भी हो। पर विश्वास रखना कि सब लोग अंत में तुम्हारी पूजा करने लगेंगे।”

श्री गोखले के मुख से मानो एक आकाशवाणी-सी हुई थी।

बाद का किस्सा लंबा है। लंबी है राजेन्द्र बाबू के मन में कई दिनों तक चले संघर्ष की कहानी और घर में मचे कोहराम की, रोने-धोने की, बेटे के साधु बन जाने की आशंका की।

यह घटना नहीं हुई होती तो आज आकाशवाणी के इस कार्यक्रम के निमित्त आदरणीय राजेन्द्र प्रसादजी की पावन स्मृति में उनको प्रणाम करने का सौभाग्य हमें नहीं मिल पाता।

इस किस्से से ऐसा न मान लें हम लोग कि वे अगले ही दिन अपना सब कुछ छोड़ देश सेवा में उतर पड़े थे। श्री गोखले खुद बड़े उदार थे। उन्होंने उस दिन कहा था कि “ठीक इसी समय उत्तर देना जरूरी नहीं है। सवाल गहरा है। फिर एक बार और मिलेंगे, तब अपनी राय बताना।”

अगले दस बारह दिनों का वर्णन नहीं किया जा सकता। भाई साथ ही रहते थे। इनके व्यवहार में आ रहे बदलाव वे देख ही रहे थे। राजेन्द्र बाबू ने कोर्ट जाना बंद कर दिया था। न ठीक से खाते-पीते, न किसी से मिलते-जुलते थे। फिर एक दिन हिम्मत जुटाई। एक पत्र, काफी बड़ा पत्र, भाई को लिखा और घर छोड़ने की आज्ञा मांगी। पत्र तो लिख दिया पर सीधे उन्हें देते नहीं बना। सो एक शाम जब भाई टहलने के लिए गए थे, तब उसे उनके बिस्तरे पर रख खुद भी बाहर टहलने चले गए।

भाई ने लौटकर पत्र देखा। और अब खुद राजेन्द्र बाबू को तलाशने लगे। जब वे बाहर कहीं मिल गए तो भाई बुरी तरह से लिपट कर रोने लगे। राजेन्द्र बाबू भी अपने को रोक नहीं पाए। दोनों फूट-फूट कर रोते रहे। ज्यादा बातचीत की हिम्मत नहीं थी फिर भी तय हुआ कि कलकत्ता से गांव जाना चाहिए। मां, चाची और बहन को सब बताना होगा।

राजेन्द्र बाबू को अब लग गया था कि देश प्रेम और घर प्रेम में घर का वजन ज्यादा भारी पड़ रहा है। वे इतनी आसानी से इस प्रेम बंधन को काट नहीं पाएंगे। गोखलेजी अभी वहीं थे। राजेन्द्र बाबू एक बार और उनसे भेंट करने गए। सारी परिस्थिति बताई। गोखलेजी ने भी उन्हें पाने की आशा छोड़ दी।

गांव पहुंचने का किस्सा तो और भी विचित्र है। चारों तरफ रोना-धोना। बची-खुची हिम्मत भी टूट गई थी। वे जैसे थे वैसे ही बन गए। फिर से लगा कि पुरानी जिंदगी पटरी पर वापस आने लगी है।

पर उस दिन तो आकाशवाणी हुई थी। वह झूठी कैसे पड़ती? यही वकालत उन्हें आने वाले दिनों में, पांच-छह बरस बाद चंपारण ले गई। वहां उन पर, उनके जीवन पर नील का रंग चढ़ा। नील का रंग याने गांधीजी के चम्पारण आंदोलन का रंग। यह रंग इतना चोखा चढ़ा कि वह फिर कभी उतरा ही नहीं।

गांधी रंग में रंगे राजेन्द्र बाबू फिर बिना किसी पद की इच्छा के देश भर घूमते रहे और सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में जितनी तरह की समस्याएं आती हैं, उनके हल के लिए अपने पूरे मन के साथ तन अर्पित करते रहे और जहां जरूरत दिखी वहां धन भी जुटाते-बांटते रहे।

उन समस्याओं की, उन विषयों की गिनती गिनाना कठिन काम है। आज तो हम दो विषयों पर, दो समस्याओं पर ही कुछ बातें करेंगे। ये हैं बाढ़ और अकाल। पानी के स्वभाव के ये दो छोर हैं। एक में, बाढ़ में चारों तरफ पानी ही पानी है और दूसरे में हर कहीं पानी का अभाव ही अभाव है। राजेन्द्र बाबू ने इनमें से जो भी समस्या सामने आई, बाकी हाथ के कामों को गौण मानकर सबसे पहले इन्हीं पर ध्यान दिया।

लेकिन इसके विस्तार में जाने से पहले हम जरा आज का संदर्भ भी दुहरा लें।

पांच राज्यों में चुनाव हो रहे हैं। आए दिन हम देखते हैं किसी को किसी राजनैतिक दल ने अपना उम्मीदवार नहीं बनाया तो उसने गुस्से में आकर दल छोड़ दिया। किसी ने निराश होकर आत्महत्या कर ली तो किसी ने उस दल की ऐसी बखिया उधेड़ दी, उसके इतने सारे दोष, अवगुण गिना डाले कि सुनने-पढ़ने वाले को अचरज होने लगे कि ये अब तक उस दमघोटू संसार में

सांस कैसे ले रहे थे। इसके पीछे एक धारणा यह बन गई है कि मुझे कोई पद नहीं मिलेगा तो देश की सेवा कैसे हो पाएगी मुझसे!

इस विचित्र धारणा को पालने-पोसने और आगे बढ़ाने में सारे दल— उनके सदस्य धर्म, लिंग, जाति, अगड़े-पिछड़े सभी में गजब की सहमति दिखती है। ऐसे में हमें राजेन्द्र बाबू के कुछ विचार आज एक बार फिर दुहरा लेने चाहिए।

यह प्रसंग आज से कोई 93 बरस पहले का है। संयोग से तब भी महीना नवंबर का ही था। अवसर था कौंसिल और असेम्बली के चुनावों का। छोटी-छोटी बातों पर तब के बड़े-बड़े नामों तक में मतभेद ही नहीं, मनभेद के भी कड़वे किस्से सामने आने लगे थे। क्या ऐसी ही नींव पर, कमजोर नींव पर आजादी के बाद की दलगत राजनीति का महल नहीं बन रहा था?

राजेन्द्र बाबू ने उस समय अपना मन मजबूत कर 'देश' नामक अखबार में एक लेख लिखा था। उसे उन्हीं के साथियों ने पसंद नहीं किया था। उन्हीं के शब्दों को यहां दुहरा लेना चाहिए: "जब देश के स्थान पर हम किसी जाति-विशेष अथवा धर्म विशेष अथवा दल विशेष को बिठाना चाहते हैं, तब इस तरह की लड़ाई हुए बिना नहीं रह सकती।

"देश सेवकों के लिए एक ही रास्ता है कि कम से कम तब तक, जब तक देश पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं हो जाता, वे किसी स्थान, पद, अथवा प्रतिष्ठान के लिए लालायित न हों और केवल सेवा को ही ध्येय बनाकर काम करते जाएं।"

इस लेख में वे आगे लिखते हैं: "मैं इसको प्रवंचना मात्र मानता हूं, जब कोई यह सोचता और कहता है कि सेवा करने के लिए उसे किसी पद विशेष की आवश्यकता है तथा उस पद के बिना वह सेवा नहीं ही कर सकता।"

इस ऐतिहासिक लेख के अंत में वे कहते हैं: "सेवक के लिए हमेशा जगह खाली पड़ी रहती है। उम्मीदवारों की भीड़ सेवा के लिए नहीं हुआ करती। भीड़ तो सेवा के फल के बंटवारे के लिए लगा करती है। जिसका ध्येय केवल सेवा है, सेवा का फल नहीं है, उसको इस धक्का-मुक्की में जाने की और इस होड़ में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है।"

जमीन पर यह सब हो रहा था और उधर आसमान से भी एक भयानक विपत्ति उतर आई थी। आश्विन के महीने में बिहार के छपरा जिले में एक दिन घनघोर बरसात हुई। चौबीस घंटों में लगभग छत्तीस इंच वर्षा हुई। नतीजा यह हुआ कि पूरा जिला भयानक बाढ़ में डूब गया। वहां के सरकारी कर्मचारियों ने लोगों की इस मुसीबत में बहुत ही उदासीनता और उपेक्षा का भाव दिखाया। तब आज की तरह ढेर सारे अखबार, दिन-रात निरर्थक खबरें बहाने वाले ढेर सारे टेलिविजन चैनल तो थे नहीं। पर जो भी थोड़े से अखबार छपते थे, सभी ने यह बात लिखी कि जब लोग, घर, गांव, खेत, मवेशी पानी में डूब रहे थे, त्राहि-त्राहि पुकार रहे थे, ऐसे में भी कुछ अधिकारी-कर्मचारी नावों में चढ़कर 'झिरझिरी' खेल रहे थे।

झिरझिरी एक तरह से लुकाछिपी का खेल होता है। डूबते लोगों को, यहां तक कि स्त्रियों और बच्चों को भी बचाने में इन अधिकारियों ने कोई मदद नहीं की। लोग डूबते रहे, प्रशासन लुकाछिपी ही खेलता रहा। ऐसी भयंकर परिस्थिति में एक अंग्रेज न्यायाधीश और एक भारतीय उपन्यायाधीश ने खूब मदद की लोगों की। राजेन्द्र बाबू जैसे शालीन व्यक्ति अपनी आत्मकथा में उस दिन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कलेक्टर और पुलिस के अफसर तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट 'टस से मस' नहीं हुए। सरकार के ऐसे घृणित व्यवहार को लेकर अगले दिन बाढ़ के पानी के बीच ही छपरा में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई और उसमें सरकार की खुले आम निन्दा की गई और साथ ही मदद देने आगे आए लोगों की खूब प्रशंसा भी हुई और उन सबके प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई थी।

देहातों का हाल तो और भी बुरा था। उन दिनों छपरा से मशरक तक जाने वाली रेल लाइन के कारण बाढ़ का सारा पानी आगे बहने के बदले एक बड़े भाग में फैल गया था और पीछे से आने वाली विशाल धारा उसका स्तर लगातार उठाते जा रही थी। लोगों को इससे बचने का एक ही रास्ता दिखा था: रेलवे लाइन काट देना और चढ़ते पानी को आगे के भूभाग में फैलने देना ताकि यहां कुछ सांस ली जा सके। पर कलेक्टर ने उनकी एक न सुनी। और तो और ऐसी ही तबाही मचा रही अन्य रेलवे लाइनों पर सशस्त्र पहरा बिठा दिया गया था। सीवान के पास एक ऐसी

ही जगह बहुत पानी जमा हो गया था। गांव वालों ने तब खुद ही उस रेल लाइन को काटना तय कर लिया। पर सामने सशस्त्र पुलिस देख उनकी हिम्मत न पड़ी।

राजेन्द्र बाबू इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं: “कष्ट सहते गए लोग। पर जब वह बर्दाश्त से बाहर हो गया तो दो-चार आदमी कंधे पर कुदाल रखकर पानी में तैरते हुए रेल लाइन की तरफ बढ़े। पुलिस ने उन्हें देखा और उनको धमकाया। उन्होंने जवाब दिया कि पानी में डूब कर तो हम मर ही रहे हैं और तुम लाइन नहीं काटने देते। अब तक हमने बर्दाश्त किया। अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते। मरना दोनों हालत में है। डूब कर मरें या गोली खाकर मरें। हमने निश्चय कर लिया है कि गोली खाकर मरना बेहतर है। हम लाइन काटेंगे, तुम गोली मारो।”

बहते पानी में ये बहादुर लोग तैरते हुए मजबूत बांध की तरह उठी हुई उस रेल लाइन पर अपने दृढ़-निश्चय से कुदाल चलाते गए। पुलिस की हिम्मत नहीं हुई गोली चलाने की। लाइन अभी थोड़ी-सी ही कट पाई थी कि पीछे भर रहे पानी की ताकत ने लोगों के संकल्प में साथ दिया और लाइन भड़ाक से टूटी और विशाल बाढ़ का पानी उसे किसी तिनके की तरह अपने साथ न जाने कहां बहा ले गया। पीछे के अनेक गांव पूरी तरह से डूबने से बच गए थे। बाद में पुलिस वालों ने भी रिपोर्ट में लिखा कि बाढ़ के दबाव से ही रेल लाइन कट गई थी।

इस सारी विपत्ति में राजेन्द्र बाबू और वे जिस दल से जुड़े थे उसके अनगिनत कार्यकर्ताओं ने दिन रात काम किया था। छपरा की उस बाढ़ में किसी बड़े अधिकारी ने यहां तक कह दिया था कि ये सारी शिकायतें लेकर मेरे पास क्यों आए हो, जाओ, जाओ गांधी के पास जाओ। और गांधी का मतलब कांग्रेस के लोग, और उसमें भी राजेन्द्र बाबू होता था।

इन सब दुखद प्रसंगों से राजेन्द्र बाबू ने देखा था कि बाढ़ और साथ ही अकाल अकेले नहीं आते। इनसे पहले समाज में और भी बहुत कुछ ऐसा होता है जो होना नहीं चाहिए। यह सब कभी धीरे-धीरे तो कभी बड़ी तेजी से होता है। गति जो भी हो, समाज के नीति निर्धारकों, संचालकों और नेतृत्व का ध्यान इन बातों की तरफ जा नहीं पाता और फिर बाढ़ या अकाल सामने आ खड़ा हो जाता है।

बुरे कामों की बाढ़ आ जाती है। बिना पानी का स्वभाव समझे विकास के नाम पर कई तरह के काम होते रहते हैं। यह किसी एक कालखंड की बात नहीं है। दुर्भाग्य से सब समय में ऐसी गलतियां दुहराई जाती रहती हैं। तो एक तरफ प्रकृति, पर्यावरण के खिलाफ ले जाने वाले कामों की बाढ़ आ जाती है तो दूसरी तरफ अच्छे कामों का अकाल पड़ने लगता है। अच्छे विचारों का अकाल पड़ने लगता है।

राजेन्द्र बाबू के जमाने में उन इलाकों में अंग्रेजों की व्यापारिक नीतियों या कहें अनीतियों के कारण बड़ी तेजी से रेल की लाइनें बिछाई गई थीं। रेल लाइन उनके व्यापार और शासन के लिए भी बड़ी खास चीज बन गई थी। इसलिए उसे आसपास की जमीन से ऊंचा उठाकर रखना जरूरी था। आज लोग इस बात को भूल चुके हैं कि कभी हमारे देश में फैल रहा रेल व्यवस्था का यह जाल अंग्रेज सरकार के भी हाथों में नहीं था। वह कुछ निजी अंग्रेजी कंपनियों की जेब में था।

खुद राजेन्द्र बाबू अपनी आत्मकथा में इस दुखद प्रसंग में लिखते हैं कि “रेल-लाइनों के कारण बाढ़ की भयंकरता बढ़ जाती है। अपने सूबे में पिछले तीस बरसों में, जितनी बड़ी और भयंकर बाढ़ें आई हैं, सबका मुझे काफी अनुभव है। मेरा यह दृढ़ विचार है कि रेलवे लाइन और डिस्ट्रिक्ट कोर्ट की तथा दूसरी ऊंची सड़कें बाढ़ के कारणों में प्रमुख हैं। यदि इनमें जगह-जगह काफी संख्या में चौड़े पुल बने रहते तो हालत ऐसी न होती।... पर यहां तो रेल की कंपनियों के मुनाफे पर ही अधिक ध्यान रखा जाता है। उनको पुल बनवाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता, लाइन काटना तो दूर की बात है।... बी.एन.डब्लू. रेलवे ने इस मामले में बहुत कंजूसपन दिखलाया है। यद्यपि अब उसमें कई जगह पुल बने हैं, तथापि अब भी बहुत से ऐसे स्थान हैं, जहां पुल की जरूरत है। उसने जो पुल बनवाए हैं, वे जनता के कष्ट दूर करने के ख्याल से नहीं अपने मुनाफे के ख्याल से; क्योंकि जब तक केवल जनता के कष्ट की बात रही, एक न सुनी गई; पर जब प्रकृति ने लाइन को इस तरह तोड़ा कि महीनों रेल चलना बंद हो गया तो उसने मजबूरन कई पुल बनवा दिए।”

सन् 1937 तक आते-आते तो उस बड़े भू-भाग की हालत ऐसी हो गई थी कि बिहार के राज्यपाल ने उस वर्ष बाढ़ की समस्या को लेकर एक बड़ा

सम्मेलन पटना में बुलाया था। इसमें राजेन्द्र बाबू को भी भाग लेने का निमंत्रण भेजा गया था। खुद राज्यपाल ने अपने मुख्य भाषण में बाढ़ के आने के जो कई कारण बताए जाते हैं, प्रकृति के विरुद्ध जाने के जो अनेक बुरे काम किए जाते हैं, उन सबका वर्णन करते हुए श्रोताओं से माफी तक मांगी थी कि उनके भाषण का एक बड़ा भाग सकारात्मक होने के बदले काफी कुछ नकारात्मक-सा हो गया था!

राजेन्द्र बाबू अचानक अस्वस्थ हो गए थे। वे उस सम्मेलन में भाग नहीं ले पाए। लेकिन उन्होंने इस विषय पर एक बड़ी टिप्पणी लिखकर भेजी थी। सम्मेलन में इसे उस दिन श्री अनुग्रह नारायण सिन्हाजी ने पढ़कर सुनाया था।

वर्षा तो हर साल होती ही है। पूरे देश में। कहीं कम, कहीं ज्यादा, कहीं बहुत ज्यादा भी। पर इन विभिन्न जगहों में रहने वाले समाज ने अपने वर्षों के अनुभव से इस कम-ज्यादा वर्षा के साथ अपना जीवन कैसे ढालना है— यह ठीक से सीख लिया था।

एक तरफ तो है जैसलमेर, जहां वर्षा का आंकड़ा इंचों में बात करें तो वर्ष भर में 6 इंच से ऊपर नहीं जाता तो दूसरी तरफ हमने देखा कि बिहार के छपरा में मात्र एक दिन में 36 इंच वर्षा हो गई थी। फिर उत्तर-पूर्व में हमारे एक प्रदेश का तो नाम ही मेघों का घर रखा गया है। इन सभी जगह के समाजों ने पीढ़ियों के अनुभव से, अपने आसपास के मौसम, धरती, हवा, पेड़, पौधे और वहां के पशुओं तक के साथ आत्मीय संबंध बना लिए थे।

आज हम देखते हैं कि जलनीतियां बनाई जाने लगी हैं। पहले ऐसा नहीं होता था। समाज अपना एक जलदर्शन बनाता था और उसे कागज पर न छाप कर लोगों के मन में उकेर देता था। समाज के सदस्य उसे अपने जीवन की रीत बना लेते थे। फिर यह रीत आसानी से टूटती नहीं थी। जलनीतियां आती-जाती सरकारों के साथ बनती-बिगड़ती रहती हैं। पर जलदर्शन बदलता नहीं। इसी रीत से उस क्षेत्र विशेष की फसलें किसान समाज तय कर लेता था। सिंचाई के लिए अपने साधन जुटा लेता था।

अभी हमने जैसा बिहार के संदर्भ में देखा कि अंग्रेजों ने बिना उस इलाके को समझे रेल की पटरियां खूब ऊंची उठाकर बिछा दीं और गंगा और अन्य नदियों के विशाल मैदान को जगह-जगह रोक लिया। उस बड़े भू-भाग में पानी की बेरोकटोक आवक-जावक के लिए उनसे समुचित प्रबंध भी नहीं

सोचा, उसे करने की बात तो कौन कहे। रेल लाइन में कितने अंतर पर बड़ी-बड़ी पुलिया बननी चाहिए— इस पर उनने ध्यान नहीं दिया। कम खर्च में ज्यादा मुनाफा खींच लेने का काम किया और बाद में पता चला कि यह तो उनकी अपनी भाषा, अंग्रेजी की कहावत की तरह परिणाम दे रहा है। कहावत है— पैनी वाईज, पाउंड फुलिश। पैसा बचाने में होशियारी की, पर रुपया गंवा बैठे।

जब अंग्रेज हमारे यहां आए थे तो हमारे देश में कोई सिंचाई विभाग नहीं था। कोई इंजीनियर नहीं था, इंजीनियरिंग की पढ़ाई नहीं थी। वैसी शिक्षा देने वाला कोई विद्यालय, महाविद्यालय तक नहीं था। सिंचाई की शिक्षा नहीं थी पर सिंचाई का शिक्षण हर जगह था और समाज उस शिक्षण को अपने मन में संजोकर रखता था और उस शिक्षण को अपनी जमीन पर उतारता था। जब अंग्रेज यहां आए हैं— एक बार फिर दुहरा लें तब हमारे यहां एक भी सिविल इंजीनियर नहीं था पर सचमुच कश्मीर से कन्याकुमारी तक, पश्चिम से पूरब तक कोई 25 लाख छोटे-बड़े तालाब थे। इनसे भी ज्यादा संख्या में जमीन का स्वभाव देखकर अनगिनत कुएं बनाए गए थे। वर्षा का पानी तालाबों में कैसे आएगा, किस तरह के क्षेत्र से, यहां-वहां से बहता आएगा— उसका आगौर अनुभवी आंखों से नाप लिया जाता था। फिर यह पानी साल भर कैसे पीने का पानी जुटाएगा और किस तरह की फसलों को जीवन देगा— इस सबकी बारीक योजना कहीं सैकड़ों मील दूर बैठे लोग नहीं बनाते थे— वहीं बसे लोग उस क्षेत्र में अपना बसना सार्थक करते थे। यह परंपरा आज भी पूरी तरह से टूटी नहीं है, हां उसकी प्रतिष्ठा जरूर गिर गई है, नए पढ़े-लिखे समाज के मन में।

पर हमारे इस पढ़े-लिखे समाज को आज यह जानकर अचरज होगा कि हमारे देश की तकनीकी शिक्षा, सिविल इंजीनियरिंग की सारी आधुनिक शिक्षा की नींव में ये अनपढ़ माना गया, अनपढ़ बता दिया गया समाज ही प्रमुख था।

आज बहुत कम लोग यह बता पाएंगे कि हमारे देश में पहला इंजीनियरिंग कॉलेज कहां और कब खुला था। इसे संक्षेप में दुहरा लेना चाहिए।

देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज खुला था हरिद्वार के पास रुड़की नामक एक छोटे-से गांव में। और सन् था 1847। तब ईस्ट इंडिया कंपनी का राज

था। ब्रितानी सरकार भी नहीं आई थी। कंपनी का घोषित लक्ष्य देश में व्यापार था। प्रशासन, या लोक कल्याण नहीं। व्यापार भी शिष्ट शब्द है। कंपनी तो लूटने के लिए ही बनी थी। ऐसे में ईस्ट इंडिया कंपनी देश में उच्च शिक्षा के झंडे भला क्यों गाड़ती।

वह किस्सा लंबा है। आज उसे यहां पूरा बताना जरूरी नहीं पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उस दौर में आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश का यह भाग एक भयानक अकाल से गुजर रहा था। अकाल का एक कारण था वर्षा का कम होना। पर अच्छे कामों और अच्छे विचारों का अकाल पहले ही आ चुका था और इसके पीछे एक बड़ा कारण था ईस्ट इंडिया कंपनी की अनीतियां।

सौभाग्य से उस क्षेत्र में, तब उसे नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेस कहा जाता था, एक बड़े ही सहृदय अंग्रेज अधिकारी काम कर रहे थे। ऊंचे पद पर थे। वे वहां के उपराज्यपाल थे। नाम था उनका श्री जेम्स थॉमसन। लोगों को अकाल में मरते देख उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों को एक पत्र लिख इस क्षेत्र में एक बड़ी नहर को बनाने का प्रस्ताव रखा था। ऊपर से उस पत्र का कोई जवाब तक नहीं आया। शायद पत्र मिलने की सूचना, पहुंच तक नहीं आई। थॉमसन ने फिर एक पत्र लिखा। इस बार फिर वही हुआ। कोई जवाब नहीं।

तब जेम्स थॉमसन ने तीसरे पत्र में अपनी योजना में पानी और अकाल, लोगों के कष्टों के बदले व्यापार की, मुनाफे की चमक डाली। उन्होंने हिसाब लिखा कि इसमें इतने रुपए लगाने से इतने ज्यादा रुपए सिंचाई के कर की तरह मिल जाएंगे। ईस्ट इंडिया कंपनी की आंखों में चमक आ गई। मुनाफा मिलेगा तो ठीक। बनाओ। पर बनाएगा कौन? कोई इंजीनियर तो है नहीं कंपनी के पास। थॉमसन ने कंपनी को आश्वस्त किया था कि यहां गांवों के लोग इसे बना लेंगे।

कोई ऐरी-गैरी, छोटी-मोटी योजना नहीं थी यह। हरिद्वार के पास गंगा से एक नहर निकाल कर उसे कोई 200 किलोमीटर तक के इलाके में फैलाना था। यह न सिर्फ अपने देश की एक पहली बड़ी सिंचाई योजना थी, दुनिया के कई अन्य देशों में भी उस समय ऐसा कोई काम हुआ नहीं था।

विस्तृत योजना का विस्तार से वर्णन यहां नहीं करना है। बस इतना ही बताना है कि वह योजना खूब अच्छे ढंग से पूरी हुई। तब थॉमसन ने कंपनी से इसकी सफलता को देखते हुए इस क्षेत्र में इसी नहर के किनारे रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज खोलने का भी प्रस्ताव रखा। इसे भी मान लिया गया क्योंकि थॉमसन ने इस प्रस्ताव में भी बड़ी कुशलता से कंपनी को याद दिलाया था कि इस कॉलेज से निकले छात्र बाद में आपके साम्राज्य का विस्तार करने में मददगार होंगे।

यह था सन् 1847 में बना देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज। देश का ही नहीं, एशिया का भी यह पहला कॉलेज था, इस विषय को पढ़ाने वाला। और आगे बढ़ें तो यह भी जानने लायक तथ्य है कि तब इंग्लैंड में भी इस तरह का कोई कॉलेज नहीं था। रुड़की के इस कॉलेज में कुछ साल बाद इंग्लैंड से भी छात्रों का एक दल यहां पढ़ने के लिए भेजा गया था!

तो इस कॉलेज की नींव में हमारा अनपढ़ बता दिया गया समाज मजबूती से सिर उठाए खड़ा है। वह तब भी नहीं दिखा था अन्य लोगों को और आज तो हम उसे पिछड़ा बता कर उसके विकास की बहुविध कोशिश में लगे हैं। इस प्रसंग के अंत में यह भी बता देना चाहिए कि 1847 में कॉलेज खुलने से पहले वहां बनी वह लंबी नहर आज भी पश्चिम उत्तर प्रदेश के खेतों में गंगा का पानी सिंचाई के लिए वितरित करती जा रही है। आज रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज को शासन ने और ऊंचा दर्जा देकर उसे आई.आई.टी. रुड़की बना दिया है।

कॉलेज का दर्जा तो उठा है पर दुर्भाग्य से कॉलेज जिन लोगों के कारण बना, जिनके कारण वह विशाल सिंचाई योजना जमीन पर उतरी, जिन लोगों ने अंग्रेजों के आने से पहले देश में, देश के मैदानी भागों में, पहाड़ों में, रेगिस्तान में, देश के तटवर्ती क्षेत्रों में जल दर्शन का सुंदर संयोजन किया था, वे लोग आज कहीं पीछे फेंक दिए गए हैं।

देश ने कई मामलों में खूब उन्नति की है, इसमें शक नहीं, लेकिन बेशक इतना तो जोड़ना ही पड़ेगा कि इसी दौर में देश में सबसे सस्ती कार बिकने आई थी और सबसे मंहगी दाल भी तथा देश के आधे भाग में भयानक अकाल भी पड़ा था। पानी तो गिरता ही है। कभी कम कभी ज्यादा। औसत का एक आंकड़ा हम पिछले सौ-पचास साल से भले ही रखने

लगे हों— यह बहुत काम नहीं आता। गणित के दम पर, आंकड़ों के दम पर जीवन नहीं चल पाता।

आधुनिक बांधों से भी अकाल दूर हो गए हों— आज भी ऐसा पक्के तौर पर नहीं कह सकते। पंजाब, हरियाणा में देश के अन्य भागों में, महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा था। हमारे कृषिमंत्री इसी प्रदेश से हैं और उन्होंने ही अपने एक बयान में कहा था कि उनने अपने जीवन में महाराष्ट्र में ऐसा भयानक अकाल पहले कभी देखा नहीं था। इसलिए बड़े बांधों से बंध जाना ठीक नहीं है। उन बांधों में भी पानी तो तभी भरेगा जब ठीक वर्षा होगी।

पर प्रकृति ठीक नहीं, ठीक-ठाक वर्षा करती है। वह मां है हमारी, लेकिन मदर डेयरी की मशीन नहीं कि जितने टोकन डालो, ठीक उतना ही पानी गिरा देगी। एक तरफ हम बड़े बांधों से बंध से गए और दूसरी तरफ नई तकनीक ने भूजल को बाहर उलीच लेने के नए साधन खोज निकाले। शहरों, गांवों में छलनी की तरह छेद कर डाले हमने और सचमुच मिट्टी की विशाल गुल्लक में पड़ी इस विशाल जल राशि को ऊपर खींच निकाला। उसमें डाला कुछ नहीं। इस तरह यह धरती की गुल्लक खाली हो चली है। भूजल भंडार में आई गिरावट को बताने के लिए यों तो जिलावार, प्रदेशवार आंकड़े भी दिए जा सकते हैं पर जब जीवन का प्राणदायी रस ही निचुड़ता जा रहा हो तो नीरस आंकड़े नया और क्या बता पाएंगे। फिर भी बिना किसी कटुता के यह तो कहा ही जा सकता है कि इस दौर में हमारी राजनीति ज्यादा गिरी है कि भूजल— यह तय कर पाना कठिन है। इन दोनों का स्तर ऊपर उठाने के लिए हमें खुद ऊपर उठना होगा।

पिछले कुछ समय से एक नया शब्द हमारे बीच आया है— जन-भागीदारी। जैसा अक्सर होता है ऐसे नए शब्द पहले अंग्रेजी में आते हैं, फिर हम बिना ज्यादा सोचे-समझे उनका अपनी भाषा में अनुवाद कर लेते हैं। पर जब यह शब्द नहीं था, यह नकली शब्द नहीं था तब हमारे समाज में पानी के मामले में गजब की भागीदारी थी। उस जन भागीदारी में सचमुच तीन भूमिकाएं होती थीं। लोग खुद अपने गांव में, शहर में पानी की योजना बनाते थे। यह हुई पहली भूमिका। फिर उस योजना को अमल में उतारते थे, तालाब, नहर, कुएं आदि बनाते थे। यह थी दूसरी

भूमिका। और तीसरी भूमिका में इन बन चुकी योजनाओं के रखरखाव की जिम्मेदारी भी स्वयं ही उठाते थे। वह भी कोई दो-चार बरस के लिए नहीं, बल्कि दो-चार पीढ़ी तक उसका रखरखाव करते थे। उसे अपना काम मान कर करते थे। ऐसे में कहीं-कहीं समाज राज की भागीदारी भी कबूल कर लेता था। एक तरह से देखा जाए तो राज और समाज परस्पर तालमेल बिठाकर इन कामों को बड़ी सहजता से संपन्न कर लेता था। आज बहुत ही कम लोगों को इस बात का कुछ अंदाज बचा हो कि हमारे कुछ नामों के, परिवारों के नामों के चिन्ह इन्हीं कामों में से निकले थे। नहर की देख-रेख वाले नेहरू थे तो पहाड़ों में सिंचाई का ढांचा एक तरह की पहाड़ी नहर, कूल बनाने वाले कोहली थे तो गूल बनाने वाले गुलाटी थे। देश में इस कोने से उस कोने तक ऐसी अनेक जातियां, अनेक लोग थे, जो गांवों और शहरों के लिए पानी का काम करते थे। इसमें अकाल और बाढ़ की मार को कम करने का काम भी शामिल था। और यह सब वे सचमुच अपने तन, मन और धन से करते थे।

जो काम उनके मन में उतर गया था, उसे वे अपने तन पर भी संजोकर रखते थे। देश के सभी भागों में शरीर पर गुदना गोदवाने की एक बड़ी परंपरा रही है। इसमें शुभ चिन्ह आदि तो चलन में थे ही, पर देश के कुछ भागों में एक विशेष चिन्ह भी पाया जाता था। इसका नाम था— सीता बावड़ी। सीधी-सादी आठ-दस रेखाओं से एक भव्य चित्र कलाई पर किसी भी मेले, ठेले में देखते ही देखते गोद दिया जाता था। इस तरह पानी का काम मन से तन पर और तन से, श्रम से उतरता जाता था जमीन पर।

लेकिन आज जमीन की कीमतें आसमान छूने लगी हैं। शहरों में भी और अनेक गांवों में भी तालाब एक के बाद एक पुरते जा रहे हैं, कचरे से पटते जा रहे हैं। जल संकट सामने है पर हम उसे पीठ दे रहे हैं। अपने तालाबों को, अपने जल स्रोतों को नष्ट कर देने के बाद ऐसे प्यासे शहरों के लिए दूर से, बहुत दूर से किसी और का हक छीन कर बड़ी खर्चीली योजनाओं को बनाकर पानी लाया जा रहा है।

पर हमें एक बात भूलनी नहीं चाहिए। इन्द्र देवता से इन शहरों ने ऐसी अपील तो की नहीं है कि हमारा पीने का पानी तो अब सौ, दो सौ किलोमीटर दूर से आ रहा है। आप हम पर पानी न बरसाएं! पहले ये तालाब ही वर्षा

के दिनों में शहरों पर गिरने वाले पानी को अपने में संजोकर, समेट कर इन शहरों को बाढ़ से बचा लेते थे।

इंद्र का एक पुराना नाम, विशेषण है पुरंदर। पुरंदर यानी जो पुरों को, किलों को, शहरों को तोड़ देता है। इस नाम को रखा गया है तो इसका अर्थ यह भी है कि इंद्र के समय में भी शहर नियोजन में कमियां होती थीं। और ऐसे अव्यवस्थित शहरों को इंद्र अपनी वर्षा के प्रहार से ढहा देता था, बहा देता था।

दिल्ली, मुंबई, चेन्नई, बंगलूरू, जयपुर, हैदराबाद जैसे नए पुराने, मंहगे हो चले, आधुनिक हो चले, सभी शहर बारी-बारी से ऐसी बाढ़ की चपेट में आ रहे हैं, जैसी बाढ़ उन जगहों में पहले कभी नहीं आती थी।

हमारे देश की समुद्र तटीय रेखा बहुत बड़ी है। पश्चिम में गुजरात के कच्छ से लेकर नीचे कन्याकुमारी घूमते हुए यह रेखा बंगाल में सुंदरबन तक एक बड़ा भाग घूम लेती है। पश्चिमी तट पर बहुत कम लेकिन पूर्वी तट पर अब समुद्री तूफानों की संख्या और उनकी मारक क्षमता भी बढ़ती जा रही है। अभी कुछ ही समय पहले ओडिशा और आंध्र प्रदेश में आए चक्रवात की पूर्व सूचना समय रहते मिल जाने से बचाव की तैयारियां बहुत अच्छी हो गई थीं और इस कारण बाकी नुकसान एक तरफ, कीमती जानें बच गईं। लेकिन उसी के कुछ ही दिनों बाद वहां आई बाढ़ में उससे भी ज्यादा नुकसान हो गया था।

हमारे पूर्वी तटों पर समुद्री तूफान आते ही हैं। पर अब नुकसान करने की उनकी क्षमता बढ़ती ही जा रही है। इसके पीछे एक बड़ा कारण है हमारे कुल तटीय प्रदेशों में उन विशेष वनों का लगातार कटते जाना, जिनके कारण ऐसे तूफान तट पर टकराते समय विध्वंस की अपनी ताकत काफी कुछ खो देते थे।

समुद्र और धरती के मिलन बिंदू पर, हजारों वर्षों से एक उत्सव की तरह खड़े ये वन बहुत ही विशिष्ट स्वभाव लिए होते हैं। दिन में दो बार ये खारे पानी में डूबते हैं तो दो बार पीछे से आ रही नदी के मीठे पानी में। मैदान, पहाड़ों में लगे पेड़ों से, वनों से इनकी तुलना करना ठीक नहीं। वनस्पति का ऐसा दर्शन अन्य किसी स्थान पर संभव नहीं। यहां इन पेड़ों की, वनों की जड़ें भी ऊपर रहती हैं। अंधेरे में, मिट्टी के भीतर नहीं,

प्रकाश में, मिट्टी के ऊपर। जड़ें, तना और फिर शाखाएं— तीनों का दर्शन एक साथ करा देने वाला यह वृक्ष, उसका पूरा वन इतना सुंदर होता है कि इस प्रजाति का एक नाम हमारे देश में सुंदर, सुंदरी ही रख दिया गया था। उसी से बना है सुंदरवन।

लेकिन आज दुर्भाग्य से हमारा पढ़ा-लिखा संसार, हमारे वैज्ञानिक कोई 13-14 प्रदेशों में फैले इस वन के, इस प्रजाति के अपने नाम एकदम भूल गए हैं। जब भी इन वनों की चर्चा होती है, इन्हें इनके अंग्रेजी नाम मैंग्रोव— से ही जाना जाता है। हमारे ध्यान में भी यह बात नहीं आ पाती कि देश में, कम से कम इन प्रदेशों की भाषाओं में, बोलियों में तो इन वनों का नाम होगा, उसके गुणों की स्मृति होगी। प्रसंगवश यहां यह भी जान लें कि मैंग्रोव शब्द भी अंग्रेजी का नहीं है, उस भाषा में यह पुर्तगाली से आया है।

तटीय प्रदेशों से प्रारंभ करें तो पश्चिम में ऊपर गुजराती, कच्छी में इसे चैरव, फिर मराठी कोंकणी में खारपुटी, तिवर, कन्नड़ में कांडला काडु, तमिल में सधुप्पू निल्लम काड्ड, तेलुगू में माडा आडवी, उड़िया में झाऊवन कहा जाता है। बांग्ला में तो सुंदरवन सबने सुना ही है। एक नाम मकड़सिरा भी है। और हिन्दी प्रदेश तो समुद्र के तट से दूर ही हैं। पर ऐसा नहीं होता कि जो चीज जिस समाज में नहीं है, उस समाज की भाषा उसका नाम ही नहीं रखे। हिन्दी में इसे चमरंग वन कहते थे। पर अब यह नए शब्दकोषों से बाहर हो गया है।

पर्यावरण को ठीक से जानने वाले बताते हैं कि आंध्र और उड़िया में खासकर पारद्वीप वाले भाग में चमरंग वनों को विकास के नाम पर खूब ही उजाड़ा है। इसीलिए पारद्वीप ऐसे ही एक चक्रवात में बुरी तरह से नष्ट हुआ था। फिर यह भी कहा गया था कि उसके लिए एक मजबूत दीवार बना दी जाएगी। कुछ ठंडे देशों का अपवाद छोड़ दें तो पूरी दुनिया में धरती और समुद्र के मिलने की जगह पर प्रकृति ने सुरक्षा के ख्याल से ही यह हरी सुंदर दीवार, लंबे-चौड़े सुंदरवन खड़े किए थे। आज हम अपनी लालच में इन्हें काट कर इनके बदले पांच गज चौड़ी सीमेंट कंक्रीट की दीवार खड़ी कर सुरक्षित रह जाएंगे— ऐसा सोचना कितनी बड़ी मूर्खता होगा— यह कड़वा सबक हमें समय न सिखाए तो ही ठीक होगा। चौथी की कक्षाओं

में यह पढ़ा दिया जाता है कि पृथ्वी पर कोई सत्तर प्रतिशत भाग में समुद्र है और धरती बस तीस प्रतिशत ही है। समुद्र के सामने हम नगण्य हैं। ये सुंदरबन, चमरंग वन हमारी गिनती बनी रहे— ऐसी सुरक्षा देते हैं।

दीवारें खड़ी करने से समुद्र पीछे हट जाएगा, तटबंद बना देने से बाढ़ रुक जाएगी, बाहर से अनाज मंगवाकर बांट देने से अकाल दूर हो जाएगा— बुरे विचारों की ऐसी बाढ़ से, अच्छे विचारों के ऐसे ही अकाल से हमारा यह जल संकट बढ़ा है।

आज हम सब जिस विभूति के पुण्य स्मरण में यहां एकत्र हुए हैं, उनसे अपने समय में या कहीं समय से पहले ही समाज का ध्यान ऐसी अनेक बातों की तरफ खींचा था।

श्री गोखले से भेंट होने के बाद राजेन्द्र बाबू कोई बावन बरस तक सार्वजनिक जीवन में रहे। उनका बचपन जिस गांव में बीता था, उस गांव में नदी नहीं थी। वे तैरना नहीं सीख पाए थे। लेकिन इस बावन बरस के एक लंबे दौर में उन्होंने अपने समाज को, देश को अनेक बार डूबने से बचाया था। अंतिम बारह बरस वे देश के सर्वोच्च पद पर रहे। जब वह निर्णायक भूमिका पूरी हुई तो सन् 1962 के मई महीने में वे एक दिन रेल में बैठे और दिल्ली से पटना के लिए रवाना हो गए थे। उसी सदाकत आश्रम के एक छोटे से घर में रहने के लिए, जहां से उन्होंने सार्वजनिक जीवन की अपनी लंबी यात्रा प्रारंभ की थी।

उनकी पुण्य स्मृति में हम सबके प्रणाम।

प्रसार भारती द्वारा राजेन्द्र प्रसाद स्मृति व्याख्यानमाला में
22 नवम्बर दो हजार तेरह को दिया गया भाषण।

रावणा तौंडी रामायण

ये दो बिलकुल अलग-अलग बातें हैं— प्रकृति का कैलेंडर और हमारे घर-दफ्तरों की दीवारों पर टंगे कैलेंडर, कालनिर्णय या पंचांग। हमारे संवत्सर के पन्ने एक वर्ष में बारह बार पलट जाते हैं। पर प्रकृति का कैलेंडर कुछ हजार नहीं, लाख करोड़ वर्ष में एकाध पन्ना पलटता है। इसलिए हिमालय, उत्तराखंड, गंगा, नर्मदा आदि की बातें करते समय हमें प्रकृति के भूगोल का यह कैलेंडर कभी भी भूलना नहीं चाहिए। पर करोड़ों बरस के इस कैलेंडर को याद रखने का यह मतलब नहीं कि हम हमारा आज का कर्तव्य भूल बैठें। वह तो सामने रहना ही चाहिए। और उस हिसाब से काम भी होना चाहिए। पर माथा साफ नहीं होगा तो वह काम भी होने नहीं वाला।

गंगा मैली हुई है। उसे साफ करना है। सफाई की अनेक योजनाएं पहले भी बनी हैं। कुछ अरब रुपए इन सब योजनाओं में बह चुके हैं। बिना कोई अच्छा परिणाम दिए। इसलिए केवल भावनाओं में बह कर हम फिर ऐसा कोई काम न करें कि इस बार भी अरबों रुपयों की योजनाएं बनें और गंगा जस की तस गंदी ही रह जाए।

बेटे-बेटियां जिद्दी हो सकते हैं। कुपुत्र-कुपुत्री भी हो सकते हैं। पर अपने यहां प्रायः यही माना जाता है कि माता कुमाता नहीं होती। तो जरा सोचें कि जिस गंगा मां के बेटे-बेटी उसे स्वच्छ बनाने के प्रयत्न में कोई तीस-चालीस बरस से लगे रहे हैं, वह भला साफ क्यों नहीं होती? क्या इतनी जिद्दी है हमारी यह मां?

सरकार ने तो पिछले दिनों गंगा को 'राष्ट्रीय' नदी का दर्जा भी दे डाला है। साधु-संत समाज, हर राजनैतिक दल, सामाजिक संस्थाएं, वैज्ञानिक समुदाय, गंगा प्राधिकरण और तो और विश्व बैंक जैसा बड़ा महाजन, सब गंगा को तन-मन-धन से साफ करना चाहते हैं। और यह मां ऐसी है कि

साफ नहीं होती। शायद हमें थोड़ा रुक कर कुछ धीरज के साथ इस गुत्थी को समझना चाहिए।

अच्छा हो या बुरा हो, हर युग में एक विचार ऊपर उठ आता है। उसका झंडा सब जगह लहरा जाता है। उसका रंग इतना जादुई, इतना चोखा होता है कि वह हर रंग के दूसरे नए, पुराने झंडों पर चढ़ जाता है। तिरंगा, लाल, दुरंगा और भगवा सब तरह के झंडे उसको नमस्कार करते हैं, उसी का गान गाते हैं। उस युग के, उस दौर के करीब-करीब सभी मुखर लोग, मौन लोग भी उसे एक मजबूत विचार की तरह अपना लेते हैं।

कुछ समझ कर तो कुछ बिना समझे भी। तो इस युग को पिछले कोई साठ-सत्तर बरस को, विकास का युग माना जाता है। जिसे देखो उसे अपना यह देश पिछड़ा लगने लगा है। वह पूरी निष्ठा के साथ इसका विकास कर दिखाना चाहता है। विकास पुरुष जैसे विश्लेषण कोई एक दल नहीं, सभी दलों, सभी समुदायों में बड़े अच्छे लगते हैं।

वापस गंगा पर लौटें। पौराणिक कथाएं और भौगोलिक तथ्य, दोनों कुल मिलाकर यही बात बताते हैं कि गंगा अपौरुषेय है। इसे किसी एक पुरुष ने नहीं बनाया। अनेक संयोग बने और गंगा का अवतरण हुआ। जन्म नहीं। भूगोल, भूगर्भ शास्त्र बताता है कि इसका जन्म हिमालय के जन्म से जुड़ा है। कोई दो करोड़, तीस लाख बरस पुरानी हलचल से। इसके साथ एक बार फिर अपनी दीवारों पर टंगे कैलेंडर देख लें। उनमें अभी बड़ी मुश्किल से 2013 बरस ही बीते हैं।

लेकिन हिमालय प्रसंग में इस विशाल समय अवधि का विस्तार अभी हम भूल जाएं। इतना ही देखें कि प्रकृति ने गंगा को सदानीरा बनाए रखने के लिए इसे अपनी कृपा के केवल एक प्रकार—वर्षा-भर से नहीं जोड़ा। वर्षा तो चार मास ही होती है। बाकी आठ मास इसमें पानी लगातार कैसे बहे, कैसे रहे, इसके लिए प्रकृति ने अपनी उदारता का एक और रूप गंगा को दिया है। नदी का संयोग हिमनद से करवाया। जल को हिम से मिलाया। तरल को ठोस से मिलाया। प्रकृति ने गंगोत्री और गौमुख हिमालय में इतनी अधिक ऊंचाई पर, इतने ऊंचे शिखरों पर रखे हैं कि वहां कभी हिम पिघल कर समाप्त नहीं होता। जब वर्षा समाप्त हो जाए तो हिम, बर्फ एक बहुत ही विशाल भाग में धीरे-धीरे पिघल-पिघल कर गंगा की धारा को अविरल रखते हैं।

तो हमारे समाज ने गंगा को मां माना और कई पीढ़ियों ने ठेठ संस्कृत से लेकर भोजपुरी तक में ढेर सारे श्लोक, मंत्र, गीत, सरस, सरल साहित्य रचा। समाज ने अपना पूरा धर्म उसकी रक्षा में लगा दिया। इस धर्म ने यह भी ध्यान रखा कि हमारे धर्म, सनातन धर्म से भी पुराना एक और धर्म है। वह है नदी धर्म। नदी अपने उद्गम से मुहाने तक एक धर्म का, एक रास्ते का, एक घाटी का, एक बहाव का पालन करती है। हम नदी धर्म को अलग से इसलिए नहीं पहचान पाते क्योंकि अब तक हमारी परंपरा तो उसी नदी धर्म से अपना धर्म जोड़े रखती थी।

पर फिर न जाने कब विकास नाम के एक नए धर्म का झंडा सबसे ऊपर लहराने लगा। इस झंडे के नीचे हर नदी पर बड़े-बड़े बांध बनने लगे। एक नदी घाटी का पानी नदी धर्म के सारे अनुशासन तोड़ दूसरी घाटी में ले जाने की बड़ी-बड़ी योजनाओं पर नितांत भिन्न विचारों के राजनैतिक दलों में भी गजब की सर्वानुमति दिखने लगती है। अनेक राज्यों में बहने वाली भागीरथी, गंगा, नर्मदा इस झंडे के नीचे आते ही अचानक मां के बदले किसी न किसी राज्य की जीवन रेखा बन जाती हैं। और फिर उन राज्य में बन रहे बांधों को लेकर वातावरण में, समाज में इतना तनाव बढ़ जाता है कि कोई संवाद, स्वस्थ बातचीत की गुंजाईश ही नहीं बचती। दो राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सत्ता हो तो भी बांध, पानी का बंटवारा ऐसे झगड़े पैदा करता है कि महाभारत भी छोटा पड़ जाए। सब बड़े लोग, सत्ता में आने वाला हर दल, हर नेतृत्व बांधों से बंध गया है।

हरेक को नदी जोड़ना एक जरूरी काम लगने लगता है। बड़े-छोटे सारे दल, बड़ी-छोटी अदालतें, अखबार, टीवी भी बस इसी तरह की योजनाओं को सब समस्याओं का हल मान लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जरूरत पड़ने पर प्रकृति ही नदियां जोड़ती है। इसके लिए वह ठेका नहीं देती। कुछ हजार-लाख बरस तपस्या करती है। तब जाकर गंगा-यमुना इलाहाबाद में मिलती हैं। कृतज्ञ समाज तब उस स्थान को तीर्थ मानता है। इसी तरह मुहाने पर प्रकृति नदी को न जाने कितनी धाराओं में तोड़ भी देती है। बिना तोड़े नदी का संगम, मिलन सागर से हो नहीं सकता। तो नदी जोड़ना, तोड़ना उसका काम है। इसे हम नहीं करें। करेंगे तो आगे पीछे पछताना भी पड़ेगा।

आज क्या हो रहा है? नदी में से साफ पानी जगह-जगह बांध, नहर बनाकर निकालते जा रहे हैं। सिंचाई, बिजली बनाने और उद्योग चलाने के लिए। विकास के लिए। अब बचा पानी तेजी से बढ़ते बड़े शहरों, राजधानियों के लिए बड़ी-बड़ी पाईप लाईन में डाल कर चुराते भी जा रहे हैं।

यह भी नहीं भूलें कि अभी तीस-चालीस बरस पहले तक इन सभी शहरों में अनगिनत छोटे-बड़े तालाब हुआ करते थे। ये तालाब चौमासे की वर्षा को अपने में संभालते थे और शहरी क्षेत्र की बाढ़ को रोकते थे और वहां का भूजल उठाते थे। यह ऊंचा उठा भूजल फिर आने वाले आठ महीने शहरों की प्यास बुझाता था। अब इन सब जगहों पर जमीन की कीमत आसमान छू रही है। इसलिए बिल्डर-नेता-अधिकारी मिल-जुल कर पूरे देश के सारे तालाब मिटा रहे हैं। महाराष्ट्र में अभी कल तक 50 वर्षों का सबसे बुरा अकाल था और फिर उसी महाराष्ट्र के पुणे, मुंबई में मानसून की एक ही दिन की वर्षा में बाढ़ आ गई है।

इंद्र का एक सुंदर पुराना नाम, एक पर्यायवाची शब्द है पुरंदर। यानी पुरों को, किलों को, शहरों को तोड़ने वाला। यदि हमारे शहर इंद्र से मित्रता कर उसका पानी रोकना नहीं जानते तो फिर वह पानी बाढ़ की तरह हमारे शहरों को नष्ट करेगा ही। यह पानी बह गया तो फिर गर्मी में अकाल भी आएगा ही। यह हालत सिर्फ हमारे यहां नहीं, सभी देशों में हो चली है। थाईलैंड की राजधानी दो वर्ष पहले छह महीने बाढ़ में डूबी रही थी। इस साल दिल्ली के हवाई अड्डे में पहली ही बरसात में 'आगमन' क्षेत्र में बाढ़ का आगमन हो गया था।

वापस गंगा लौटें। पिछले कुछ दिनों से उत्तराखंड की बाढ़ की, गंगा की बाढ़ की टीवी पर चल रही खबरों को एक बार फिर याद करें। नदी के धर्म को भूल कर हमने अपने अहम् के प्रदर्शन के लिए तरह-तरह के भद्दे मंदिर बनाए, धर्मशालाएं बनाईं, नदी का धर्म सोचे बिना। हाल की बाढ़ में मूर्तियां ही नहीं, सब कुछ गंगा अपने साथ बहा ले गई।

तो नदी से सारा पानी विकास के नाम पर निकालते रहें, जमीन की कीमत के नाम पर तालाब मिटाते जाएं, और फिर सारे शहरों, खेतों की सारी गंदगी, जहर नदी में मिलाते जाएं। फिर सोचें कि अब कोई नई योजना बना कर हम नदी भी साफ कर लेंगे। नदी ही नहीं बची। गंदा नाला बनी नदी साफ होने

से रही। गुजरात के भरुच में जाकर देखिए रसायन उद्योग ने विकास के नाम पर नर्मदा को किस तरह बर्बाद किया है।

नदियां ऐसे साफ नहीं होंगी। हमें हर बार निराशा ही हाथ लगेगी। तो क्या आशा बची ही नहीं? ऐसा नहीं है। आशा है, पर तब जब हम फिर से नदी धर्म ठीक से समझें। विकास की हमारी आज जो इच्छा है, उसकी ठीक जांच कर सकें। बिना कटुता के। गंगा को, हिमालय को कोई चुपचाप षड्यंत्र करके नहीं मार रहा। ये तो सब हमारे ही लोग हैं। विकास, जी.डी.पी., नदी जोड़ो, बड़े बांध सब कुछ हो रहा है। हजारों लोग षड्यंत्र नहीं करते। कोई एक चुपचाप करता है गलत काम। इसे तो विकास, सबसे अच्छा काम मानकर सब लोग कर रहे हैं। पक्ष भी, विपक्ष भी सभी मिलकर इसे कर रहे हैं। यह षड्यंत्र नहीं, सर्वसम्मति है।

विकास के इस झंडे तले पक्ष-विपक्ष का भेद भी समाप्त हो जाता है। हमारी लीला ताई ने हमें मराठी की एक बहुत विचित्र कहावत सुनाई थी: रावणा तोंडी रामायण। रावण खुद बखान कर रहा है रामायण की कथा। हिमालय में, गंगा में, गांवों, शहरों में हम विकास के नाम पर ऐसे काम न करें जिनके कारण ऐसी बर्बादी आती हो। नहीं तो हमें रावण की तरह अपनी खुद की बर्बादी का बखान करना पड़ेगा।

18 जून, दो हजार तेरह को गंगा प्रसंग में दिए गए एक भाषण से।

साध्य, साधन और साधना

अगर साध्य ऊंचा हो और उसके पीछे साधना हो,
तो सब साधन जुट सकते हैं

यह शीर्षक न तो अलंकार के लिए है, न अहंकार के लिए। सचमुच ऐसा लगता है कि समाज में काम कर रही छोटी-बड़ी संस्थाओं को, उनके कुशल संचालकों को, हम कार्यकर्त्ताओं को और इस सारे काम को ठीक से चलाने के लिए पैसा जुटाने वाली उदारमना, देशी-विदेशी अनुदान संस्थाओं को आगे-पीछे इन तीन शब्दों पर सोचना तो चाहिए ही।

साध्य और साधन पर तो कुछ बातचीत होती है, लेकिन इसमें साधना भी जुड़ना चाहिए।

साधन उसी गांव, मोहल्ले, शहर में जुटाए जाएं या कि सात समुंदर पार से आएं, इसे लेकर पर्याप्त मतभेद हो सकते हैं। पर कम से कम साध्य तो हमारे हों। कुछ अपवाद छोड़ दें तो प्रायः होता यही है कि साधनों की बात तो दूर, हम साध्य भी अपने नहीं देख पाते। यहां साध्य शब्द अपने संपूर्ण अर्थ में भी है और कामचलाऊ, हल्के अर्थ में भी। यानी काम, लक्ष्य, कार्यक्रम आदि।

पर्यावरण विषय के सीमित अनुभव से मैं कुछ कह सकता हूं कि इस क्षेत्र में काम कर रही बहुत-सी संस्थाएं साध्य, लक्ष्य के मामले में लगातार थपेड़े खाती रही हैं। लोग भूले नहीं होंगे जब पर्यावरण के शेयर बाजार में सबसे ऊंचा दाम था सामाजिक वानिकी का। हम सब उसमें जुट गए, बिना यह बहस किए कि असामाजिक वानिकी क्या हो सकती है।

फिर एक दौर आया बंजर भूमि विकास का। अंग्रेजी में वेस्टलैंड डेवलपमेंट। तब भी बहस नहीं हो पाई कि वेस्टलैंड है क्या। खूब साधन और समय इसी

साध्य में वेस्ट यानि बर्बाद हो गया। बंजर जमीन के विकास का सारा उत्साह अचानक अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके बदले हम सब फिलहाल वाटरशेड डेवलपमेंट में रम गए हैं।

इस नए कार्यक्रम के हिंदी से सिंधी तक अनुवाद हो गए। जलग्रहण क्षेत्र शब्द भी चल रहा है, जलागम क्षेत्र भी। थोड़े देसी हो गए तो मराठी वालों ने पानलोट विकास नाम रख लिया है पर मूल में इस सबके पीछे एक विचित्र वाटरशेड की कल्पना ही है।

ज्वाइंट फॉरेस्ट मैनेजमेंट दूसरा नया झंडा है। इसमें भी हमारी हिंदी प्रतिभा पीछे नहीं है: संयुक्त वन प्रबंध कार्यक्रम फल-फूल रहा है। यदि हम अपनी संस्था को जमीन से जुड़ा मानते हैं तो हो सकता है हमें संयुक्त शब्द पर आपत्ति हो। तब हम इसे साझा शब्द से पटकी खिला देते हैं। नाम कुछ भी रखें, काम—यानी साध्य—वर्ल्ड बैंक का तय किया होता है। हिंदी में कहें तो विश्व बैंक। साधन भी उसी तरह की संस्थाओं से आ रहे हैं।

यह विवरण मजाक या व्यंग्य का विषय नहीं है। सचमुच दुख होना चाहिए हमें। इस नए काम की इतनी जरूरत यदि आ भी पड़े तो 'जे.एफ.एम.' यानी ज्वाइंट फॉरेस्ट मैनेजमेंट का काम उठाते हुए हमें यह तो सोचना ही चाहिए कि इस ज्वाइंट से पहले सोलो मैनेजमेंट किसका था। कितने समय से था।

वन विभाग ने अपने कंधों पर पूरे देश के वन प्रबंध का बोझ कैसे उठाया, उस बोझ को लेकर वह कैसे लड़खड़ाया और उसकी उस लड़खड़ाहट की कितनी बड़ी कीमत पूरे देश के पर्यावरण ने चुकाई? ये वन समाज के किस हिस्से से, कितनी निर्ममता से छीने गए? और जब वनों का वह गर्वीला एकल वन प्रबंध सारे विदेशी अनुदानों के सहेजे, संभाले नहीं संभला, तो अचानक संयुक्त प्रबंध की याद कैसे आई?

पल भर के लिए, झूठा ही सही, एकल वन प्रबंधकों को सार्वजनिक रूप से कुछ पश्चाताप तो करना ही चाहिए था। क्षमा मांगनी चाहिए थी, और तब विनती करनी चाहिए थी कि: अरे भाई यह तो बड़ा भारी बोझा है, हमारे अकेले के बस का नहीं, पिछली गलती माफ करो, जरा हाथ तो बंटाओ।

साधन और साध्य का यह विचित्र दौर पूरी तरह उधारीकरण का रहा है। जो हालत पर्यावरण के सीमित विषय में रही है, वही समाज के अन्य

महत्त्वपूर्ण विस्तृत क्षेत्रों में भी मिलेगी। महिला विकास, बाल विकास, महिला सशक्तीकरण, बंधुआ मुक्ति, महाजन मुक्ति, बाल श्रमिक, लघु या अल्प बचत, प्रजनन स्वास्थ्य, गर्ल चाइल्ड... सब तरह के कामों में शर्मनाक रूप दिखते हैं।

पर हम तो आंख मूंद कर इनको जपते जा रहे हैं।

यूरोप, अमेरिका की सामाजिक टकसाल से जो भी शब्द-सिक्का ढलता है, वहां वह चले या न चले, हमारे यहां वह दौड़ता है। यह भी संभव है कि इनमें से कुछ काम ऐसे महत्त्वपूर्ण हों जो करने ही चाहिए। तो भी इतना तो सोचना चाहिए कि हम सबका ध्यान इन कामों पर पहले क्यों नहीं जाता?

सामाजिक कामों के इस शेयर बाजार में सामाजिक संस्थाओं के साथ-साथ सरकारों की भी गजब की भागीदारी है। केंद्र समेत सभी राज्यों की, सभी तरह की विचारधाराओं वाले सभी दलों की सरकारों में इस मामले में गजब की सर्वसम्मति है।

विश्व बैंक हर महीने कोई 200 पन्नों का एक बुलेटिन निकालता है। इसमें पिछले महीने में पारित सभी देशों के राज्यों की विभिन्न सरकारों को दिए जाने वाले ऋण का विस्तृत ब्योरा रहता है। इसे देख लें। पक्का भरोसा हो जाएगा कि डॉलर विचार की करंसी में बदल गया है।

ऐसा नहीं कि सभी बिक गए हैं। इस वृत्ति से लड़ने वाले भी हैं। पर कई बार खलनायक से लड़ते-लड़ते हमारे नायक भी कुछ वैसे ही बन जाते हैं। आपात्काल को अभी एक पीढ़ी तो भूली नहीं है। उससे लड़कर, जीतकर सत्ता में आए हमारे श्रेष्ठ नायकों ने तब कोका-कोला जैसे लगभग सर्वव्यापी पेय को खदेड़ा था। बदले में उसी जैसे रंग का, वैसी ही बोतल में उतने ही प्रमाण का यानी चुल्लू-भर पानी बनाकर उसका नाम कोका-कोला के बदले 77 (सतत्तर नहीं) डबल सेवन रखा गया। आपात्काल की स्मृति को समाज के मन में स्थायी रूप देने! यानी हमारे पास अपने कठिन दौर को याद रखने का इससे सरल कोई उपाय नहीं था। चलो यह भी स्वीकार है। कष्ट के दिनों को मनोरंजन के, शीतल पेय के माध्यम से ही याद रखते। पर हम उसे भी टिका नहीं पाए। डबल सेवन डूब गया, वे नायक भी डूबे। फिर कोका-कोला वापस आ गया, पहले से भी ज्यादा जोश से और संयोग यह कि हमारे डूबे नायक भी फिर से वापस आ गए। सहअसत्तित्व का सुंदर उदाहरण है यह प्रसंग।

तो साधनों की बहस हमें वहां ले जाएगी जब हम साध्य, लक्ष्य, अपने सामने खड़े काम, कार्यक्रम ही नहीं खोज पाएंगे। एक बार साध्य समझ लें तो फिर बाहर का साधन भी कोई उस तरफ मोड़ सकता है। तब ज्यादा गुंजाइश वैसे इसी बात की होगी कि साध्य अपना होगा तो साधन भी फिर अपने सूझने लगते हैं।

इसका एक छोटा-सा उदाहरण जयपुर जिले के एक गांव का है। वहां ग्राम के काम में लगी एक संस्था ने बाहर की मदद से गरीब गांव में पानी जुटाने के लिए कोई 30,000 रुपए खर्च कर एक तालाब बनवाया। फिर धीरे-धीरे लोगों से उसकी थोड़ी आत्मीयता बढ़ी। बातचीत चली तो गांव के एक बुजुर्ग ने कहा कि तालाब तो ठीक है, पर ये गांव का नहीं, हमारा नहीं, सरकारी-सा दिखता है। पूछा गया कि यह अपना कैसे बनेगा।

सुझाव आया कि इस पर पत्थर की छतरी स्थापित होनी चाहिए। पर वह तो बहुत महंगी होती है। लागत का अंदाज बिठाया तो उसकी कीमत तालाब की लागत से भी ज्यादा निकली। संस्था ने बताया कि हम तो यह काम नहीं करवा सकते। हमारे पास तो तालाब के लिए अनुदान है, छतरी के लिए नहीं।

गांव ने जवाब दिया कि छतरी के लिए संस्था से मांग ही कौन रहा है। गरीब माने गए गांव ने देखते ही देखते वह पहाड़-सी राशि चंदे से जमा की, अपना श्रम लगाया और तालाब की पाल पर गाजे-बाजे, पूजा-अर्चना के साथ छतरी की स्थापना कर डाली।

कुछ को लगेगा कि यह तो फिजूलखर्ची है। पर यह मकान और घर का अंतर है। समाज को पानी के केवल ढांचे नहीं चाहिए। समाज को ममत्व भी चाहिए। छतरी लगाने से तालाब सरकारी या संस्था का तकनीकी ढांचा न रहकर एक आत्मिक ढांचे में बदलता है। फिर उसकी रखवाली समाज करता है।

वैसे भी अंग्रेजों के आने से पहले देश के पांच लाख गांवों में, कुछ हजार कस्बे, शहरों में, राजधानियों में कोई बीस लाख तालाब समाज ने बिना किसी 'वॉटर मिशन' या 'वॉटरशेड डेवलपमेंट' के, अपने ही साधनों से बनाए थे। उनकी रखवाली, टूट-फूट का सुधार भी लोग खुद ही करते थे। जरा कल्पना तो करें हम उस ढांचे के आकार की, प्रकार की, संख्या बल की, बुद्धि बल

की, संगठन बल की, जो पूरे देश में पानी का प्रबंध करता था। वह भी एक ऐसे देश में जहां चेरापूंजी से लेकर जैसलमेर तक विचित्र परिस्थिति थी।

तालाबों का यह छोटा-सा किस्सा बताता है कि साध्य अपना हो तो साधन भी अपने जुटते जाते हैं। हां, उसके लिए साधना चाहिए। आज संस्थाएं पूरी दुनिया से बात करने के लिए जितनी उतावली दिखती हैं, उसकी आधी उतावली भी वे समाज से बात करने में लगाएं तो यह साधना अपना रंग दिखा सकती है। पर बात करने में और 'पार्टिसिपेटरी रिसर्च अप्रेजल' या 'पी.आर.ए.' करने में मूल अंतर होता है।

बुंदेलखंड में एक कहावत है: चुटकी भर जीरे से ब्रह्मभोज। सिर्फ जीरा है, वह भी चुटकी भर। न सब्जी है, न दाल, न आटा। पर ब्रह्मभोज हो सकता है। साध्य ऊंचा हो, साधना हो, तो सब साधन जुट सकते हैं। हां चुटकी भर जीरे से 'पार्टी' नहीं हो सकेगी।

*सन् दो हजार चार में विदेशी अनुदान विषय पर हुई
गोष्ठी में दिए गए भाषण के अंश।*

दुनिया का खेला

मैं उनसे कभी मिल नहीं पाया था। सभा गोष्ठियों में दूर से ही देखता था उन्हें। अपरिचय की एक दीवार थी। यह कोई ऊंची तो नहीं थी पर शायद मेरा अपना संकोच रोके रहा आगे बढ़कर मिलने से।

आज उनकी स्मृति में हम सब यहां एकत्र हुए हैं। उन्हें मैं प्रणाम करता हूं। नाटक उनका संसार था। मैं प्रायः नाटक जा नहीं पाता था। औरंगजेबपन नहीं। शायद जेब में ठीक पैसा न होना एक कारण था। मैं उनके नाटक संसार से तो जुड़ नहीं पाया। पर फिर कुछ पुण्य रहे होंगे कि उनके परिवार से जुड़ता गया। आज इस परिवार की तीन पीढ़ियों का प्यार मुझे बिन मांगे मिला है। रिभु तक का।

अशोकजी ने कभी अंग्रेजी में एक सुंदर पंक्ति लिखी थी: एकदम नाटक वाली: वन्स अपॉन ए टाईम वाली शैली में। वे कहीं परिचय दे रहे थे मध्यप्रदेश का। पहला ही वाक्य था: वन्स अपॉन ए टाईम, देयर वाज़ नो मध्यप्रदेश! उससे भी पीछे के काल में लौटें तो कहा जा सकता है कि कभी दिल्ली भी नहीं थी।

पर नाटक तो थे। ऐसा भी कह सकते हैं, नाटक तो था। यहां आप बहुवचन से हट कर एकवचन पर आ जाएं तो नाटक शब्द को मानो पंख लग जाते हैं। ज्यादा विस्तार, व्यापकता और गहराई इस एकवचन में आ जाती है। तो दुनिया में नाटक था। दुनिया का खेला था। और इस खेला के बीच नाटक भी खेले जाते थे। कोई हजार बरस पुराने ये किस्से हैं पर लगेगा कि ये तो आज की ही बात है।

नाटक खेले जाते थे। कुछ उन्हें पसंद करते थे। और कुछ नापसंद भी। शुरू में किसी बात को नापसंद करने वाले थोड़े किनारे बैठते रहे होंगे - तटस्थ। फिर वे बीच में बहने लगे होंगे। नाटकों में विघ्न डालने का, तरह-तरह की रुकावटें डालने का नाटक भी शुरू हो गया था तब।

आज तो बहुत से ऐसे दल हैं, समूह हैं, जिनकी भावनाओं को चाहे जब, चाहे जहां, चाहे जिस बात से आघात पहुंच जाता है। तब वे अपनी आहत हो चुकी भावनाओं को शांत करने का एक ही तरीका जानते हैं, अपनाते हैं— अशांति फैलाना। नाटक हो, किताब हो, संगीत हो, कला प्रदर्शनी हो - सब पर एक ही तरीका लागू होता है।

तब की, कुछ हजार बरस पहले की परिस्थितियां क्या थीं, क्या पता हमको। पर नाटक शुरू होने से पहले मंगलाचरण, विघ्न हरण की अनेक गतिविधियां सामने आने लगी थीं।

नाटक कैसे करें— यानी नाट्यशास्त्र की बारीकियां तो मोटे-मोटे ग्रंथों में लिखी ही गई थीं। पर विघ्न न आए, उपद्रव न हो जाए— इसका भी पूरा शास्त्र रचा जाने लगा था, उस समय।

और जैसा कि उस समय का चलन था यह सारा काम काला चश्मा पहने, (कल टी.वी.पर सबने खूब देखा है) हाथ में बंदूक ताने कठोर चेहरे वाले, कहीं शून्य में ताकती संदेह भरी आंखों के बदले, ब्लैक कमांडो के बदले सरल सौम्य, रम्य सूत्रधार के हाथों में सौंपा जाता था।

सूत्रधार नेपथ्य से रंगभूमि में, रंगमंच पर प्रवेश करता। उसकी इसी क्रिया का नाम था— रंगावतरण। उसके साथ एक तरफ पूर्ण कलश यानी जल से भरा कलश लिए एक सहायक होता तो दूसरी तरफ एक सहायक ध्वजा लिए आता। अब सूत्रधार कितने पग आगे बढ़ेगा, कितने पग दाएं, कितने बाएं— इस सबका पूरा हिसाब, पक्का गणित आ सकने वाले विघ्नों के प्रकारों को मानो किसी अदृश्य तराजू पर तोल कर लगा लिया जाता था।

यह सब काम गुस्से से, कठोर मुद्रा बनाकर नहीं, बहुत ही ठुमक-ठुमक कर, अभिनय, संगीत, प्रकाश की मदद से खूब आनंद के साथ किया जाता था।

कहने को अभी नाटक शुरू ही नहीं हुआ है पर विघ्न विनाशक नाटक तो जारी ही है। कलश के जल से सूत्रधार पूरी रंगशाला और मंच को शुद्ध करते हैं, आचमन करते हैं। फिर बारी आती है ध्वज की।

आज बहुत कम लोगों को यह याद रह पाया हो कि इस ध्वज का एक विशेष नाम होता था। काम तो विशेष था ही। इसे जर्जर ध्वज कहते थे।

आज की हिंदी में इसका मतलब कुछ ऐसा लगेगा— फटा हुआ झंडा। पर भला फटा हुआ, जर्जर ध्वज फहराकर कोई क्यों नाटक करेगा। यह तो एकदम भव्य झंडा होता था। ठाठ से लहराता हुआ। इसे उठा कर पूरे रंगमंच पर इस कोने से उस कोने तक घुमा कर सूत्रधार आ सकने वाले सभी विघ्नों को जर्जर कर देता था।

तो आज की इस बैठक के लिए भी हम एक जर्जर ध्वज फहरा ही दें न! अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

इतना सब हो जाने के बाद भी नाटक शुरू नहीं हो पाता था। यह भी कहा जा सकता है कि उन दिनों सभी दर्शकों में अपार धीरज एक गुण की तरह व्याप्त रहता था। आप सबमें भी यह गुण है ही।

अब बारी आती एक विशेष नृत्य द्वारा भगवान शिव और विष्णु की पूजा अर्चना की। सूत्रधार बहुत ही ऊंचे दर्जे के अभिनय के साथ यह सारा काम करता। बाएं पैर से विष्णुजी और दाएं से शिव भगवान को स्मरण किया जाता। बड़ा ही कठिन काम होता यह। पहला पद वाम स्त्री का माना गया है और दूसरा पद दक्षिण पुरुष का। आज की भाषा में कहें तो जेंडर सेंसेटिव वाला कर्तव्य भी पूरा हो गया। उस काम में बात यहीं आकर समाप्त नहीं हो जाती थी। कहीं-कहीं क्षेत्र विशेष में एक तीसरा पद नपुंसक का भी रखा जाता था। लेकिन पैर तो दो ही हैं न। तीसरा कहां से लाएंगे? सूत्रधार तब दाहिने पैर को अपनी नाभि तक बहुत ही शानदार अभिनय के साथ उठाता। पार्श्व में बजता विशेष संगीत पूरा साथ देता। यह बहुत कठिन क्रिया होती थी। कभी अकेले में करके तो देखें!

नाटक अभी भी शुरू नहीं हुआ है।

फिर सूत्रधार जर्जर ध्वज की पूजा चार तरह के विशेष फूलों से करता। तब बारी आती नाटक में इस्तेमाल होने जा रहे तरह-तरह के वाद्य यंत्रों की पूजा की। ऐसा न हो कि वे प्रस्तुति के दौरान बेसुरे हो जाएं। उनके तार टूट जाएं या कि मृदंग उतर जाएं।

अब आई बारी नांदी पाठ की। उस समय भी ये राजा लोग हमारे आज के नेताओं की तरह, मुख्यमंत्रियों की तरह खूब लड़ा करते होंगे। तभी तो हर नाटक के प्रारंभ में नांदी पाठ में बचे सब देवताओं को प्रणाम कर लेने के बाद सूत्रधार को अपने राजा की विजय की कामना भी करनी पड़ती थी। पता नहीं

सभामंडप में राजा की ओर से कोई सेंसर अधिकारी बैठा रहता था यह सब देखने और कोई चूक हो जाने पर ऊपर तक चुगली करने।

आप सबके धीरज के लिए धन्यवाद। क्षमा भी मांग लें कि अभी आज का भाषण शुरू ही नहीं हो पाया है, पर नाटक तो चालू हो जाए पहले।

पर सब अब तक थक गए हों तो थोड़ा सुस्ता लें। ब्रम्हा भी थक कर सुस्ताने लगे थे। इतनी बड़ी सृष्टि का निर्माण करने के बाद, दुनिया का खेला रचने के बाद वे भी थक गए थे। उन्होंने भी सांस ली थी, थोड़ा आराम किया था।

सब धर्मों में दुनिया का खेला शुरू करने के बाद इसी तरह के किस्से मिलते हैं। ईश्वर ने सृष्टि की रचना छह दिनों में पूरी कर डाली थी। तो फिर जो सातवां दिन आया, उस दिन छुट्टी रखी, जी भर कर आराम किया था। इसी में से बाद में रविवार की छुट्टी निकली। तुमने आराम किया प्रभु तो हम मुंशी लोग, हम अफसर लोग भी तो छह दिन काम करके थक गए हैं तो अब सातवें दिन पूरा आराम करना है।

कुछ समाजों में, धर्मों में रविवार के बदले शनिवार है छुट्टी तो कहीं शुक्रवार भी। पर है जरूर।

मुझे न तो संस्कृत नाटकों की इतनी बारीक परंपरा का कोई अंदाज था और न दुनिया के इस खेल का। शायद तब मैं आठवीं में पढ़ता था। सन् 1959-60 की बात होगी। दिल्ली में कोई अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह हो रहा था। उसमें एक हिस्सा बड़ी फिल्मों का था तो एक हिस्सा बहुत ही छोटी फिल्मों का। इतनी छोटी की हम सोच भी न पाएं। केवल तीन मिनट की फिल्मों का प्रदर्शन। ऐसी अनेक फिल्मों में से जिसे पहला पुरस्कार मिला था, उसे देखने का संयोग मेरे हाथ लग गया था। न जाने कैसे।

वहां रंगशाला में मैंने झांक लिया है, नाटक अभी भी शुरू नहीं हो पाया है। इसलिए इस तीन मिनट की फिल्म को भी झटपट देख लें हम सब। यह फिल्म कैनेडा के किसी महानिदेशक ने बनाई थी। तब बच्चा ही तो था। अंग्रेजी के नाम याद नहीं रख पाया था।

फिल्म शुरू होती है कैनेडा की एक झील के दृश्य से। सुंदर नीला पानी। तब जैसे भी हमारे जल स्रोत इतनी बुरी तरह से प्रदूषित नहीं थे। झील में एक नाव तैर रही है। नाव में एक पिता-पुत्र बैठे हैं। पिता चप्पू खे रहे हैं, 6-8

बरस का बेटा उन्हें निहार रहा है। इस उमर में प्रायः सभी बेटों को अपने पिता बड़े अच्छे लगते हैं।

कैमरा ऊपर उठता है। अब पूरी झील दिखने लगती है। कैमरा और ऊपर जाता है। झील के किनारे बने सुंदर घर आते हैं परदे पर। फिर और ऊपर। पूरा मोहल्ला, फिर और ऊपर उठता जाता है कैमरा। पूरा राज्य, पड़ौसी देश अमेरिका, फिर दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप, एशिया, लो पूरी गोल सुंदर हमारी धरती। कैमरा अभी भी उठता जा रहा है। फिल्म शुरू हुए अभी एक मिनट भी नहीं हो पाया है। बगल से चांद झांक गया, अब अन्य ग्रह, शनिचर आदि, जिनसे आजकल लोग बहुत डरने लगे हैं और कुछ टी.वी. चैनल शनि महाराज की शांति करवाने में विशेष योग्यता भी रखते हैं।

खैर हमारा सौर मंडल, हमारे सौर परिवार के सभी सदस्य अगल-बगल से निकलते जाते हैं। अब हमारी आंखों के सामने हमारी आकाश गंगा आने लगी है— अनगिनत तारे, सूरज से छोटे और सूरज से बड़े भी। फिर और आकाश गंगाएं। डेढ़ मिनट भी अभी नहीं हो पाता है कि पूरा परदा असंख्य झिलिमिल सितारों, तारों, बिंदुओं से ठसाठस भर जाता है। कहीं कोई जरा-सी भी जगह नहीं बचती।

विराट दर्शन!

अब कैमरा बड़ी ही तेजी से वापस आने लगता है नीचे। उसी रास्ते। सब दृश्यों को वापसी के क्रम में दिखाते हुए वापस झील पर। झील में अब नाव पर। नाव में चप्पू खेते पिता के हाथ पर। हाथ पर बैठा है एक मच्छर। अब मच्छर के डंक से कैमरा खून में जाता है। खून की नस में दौड़ रहे हैं लाल कण, सफेद कण। अब वह विराट दर्शन की तरह सूक्ष्म दर्शन कराता जाता है। जितना वह ऊपर गया था, उतना ही वह शरीर में भीतर उतरते जाता है।

आज सन् 2013 में इस विषय के जानकार बताते हैं कि हममें से हरेक के शरीर में कोई 90 लाख करोड़ जीवाणु, सूक्ष्म जीव रहते हैं। यही अपने आप में कितना बड़ा खेला है। हम एक विचार पर बनी एक ही संस्था में 20-25 लोग, सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, कवि, लेखक एक साथ नहीं रह पाते। एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं पूरा जीवन। और ये हैं 90 लाख करोड़ हमारे साथी जो पूरा तालमेल बिठा कर हमारे इस शरीर को टिकाये

रहते हैं। तो दुनिया का एक बहुत बड़ा खेला तो हमारे अपने इसी चोले में खेला जा रहा है। जो लोग हजारों बरसों से आत्मा की खोज कर रहे हैं क्या पता यही आत्मा हो?

तो न यह सूक्ष्म जगत हमें पकड़ में आता है न वह विराट जगत। इन दोनों का गणित हमारे किसी भी गणित से परे है। दूरियां प्रकाश वर्ष में नापी जाती हैं और फिर भी हम उन्हें माप नहीं पाते। दस-पांच बरस में एकाध बार अपनी धरती से सिर्फ 80-90 किलोमीटर ऊपर जाकर हम अपने विज्ञान-ज्ञान की शान बघारें— यह करीब-करीब मूरखपना ही है।

इसी मूरखपने में से निकली यह समझदारी इस तीन मिनट की फिल्म देख कर। इसे देख दूरियां क्या हैं यह भी हम भूल जाएंगे और नजदीकियां क्या हैं, विराट क्या है, सूक्ष्म क्या है, इस सबकी परिभाषा भी बदल जाती है। किसी मौके पर घोंघे की गति हवाई जहाज से भी तेज लग सकती है।

एक जीवाणु है जो हमारी आंख की पुतली में रहता है। उसका काम पुतली की सफाई करते रहना है। दिन भर हम अपनी आंख में कितना कचरा, धुंआ, धूल झोंकते हैं, कई बार दूसरों की आंखों में भी— यह सारी सफाई यह जीवाणु करता है। इस पुतली की छोटी-सी दुनिया का खेला बहुत जोरदार है। जब हम जागते हैं तो यह जीवाणु सोता रहता है। गहरी नींद। इसे तेज रोशनी, शोर-शराबा कुछ तंग नहीं करता। आराम से सोता है— पूरी रात जो नौकरी करनी है इसे। हमारी पुतली है ही कितनी बड़ी। एक सेंटीमीटर से भी कम। हमारे सोते ही यह जाग जाता है, अपना काम करने।

कई हिंदी अखबारों में, जनसत्ता में नहीं, ग्रामीण खबरों में एक शब्द आता है: फलां थानांतरगत गांव। ये पुतली का थानेदार अपने अंतर्गत आने वाले एक सेंटीमीटर के गांव का पूरा चक्कर बड़ी मुस्तैदी से लगाता है— 7/8 घंटे में एक सेंटीमीटर की भागदौड़ पूरी कर लेता है। उसे भगवान की तरह, हमारी तरह रविवार भी नहीं मिलता। जन्म से मृत्यु तक वह काम ही करता रहता है। वह भी रविवार की छुट्टी मांगने लगे तो हम सबकी आंखें, पूरी दुनिया की आंखें गईं समझो।

आपकी अनुमति हो तो हम एक बार फिर रंगशाला में झांक लें। लीजिए विस्तृत नांदी पाठ सम्पन्न हो गया है और अब हमारे सूत्रधार कुछ ऐसी

बातों की सूचना विदूषक के साथ दर्शकों को दे रहे हैं जो उस जमाने की चलती बातें, ब्रेकिंग न्यूज होंगी। ठीक सुनाई तो नहीं दे रहा पर वे बालू की भीत और पवन के खंबे की बात कर रहे हैं शायद। सूत्रधार का ध्यान एकदम ताजी घटनाओं पर चला गया है। रेत की दीवार में से बीच की विभक्ति 'की' हटा दें। बचा क्या रेत-दीवार, रेत और दीवार। पवन का खंबा में से क्या जोड़ें, क्या हटाएं— उसे अभी यहीं छोड़ दें। बस पवन से ही काम चला लें अभी।

ऐसे प्रसंगों से सूत्रधार नाटक की कहानी का बीज बो देते हैं आने वाले कथानक की तरफ दर्शकों को एक संकेत देकर। फिर धीरे-धीरे इसी बीज के सहारे कथानक का पूरा वृक्ष खड़ा होने वाला है।

अब तक अनेक देवताओं की स्तुति, वंदना हो चुकी है। अब तो बारी है उस विशेष देवी या देवता की जिसको केंद्र में रख कर आज का नाटक खेला जाना है। तो क्या पता थोड़ी ही देर में हमारे ये सूत्रधार दुर्गा की वंदना करने जा रहे हों। बाद में जानकारी लगेगी कि रेत और दीवार का उनसे कुछ न कुछ संबंध भी निकल ही आया है।

आजकल सबके पास एक रिमोट कंट्रोल रहता ही है। आप भी चाहें तो उसका बटन दबाकर यह भाषण यहीं रोक सकते हैं, वह भाषण जो अभी शुरू ही नहीं हो पाया है। बटन संकोच में नहीं दबाते आप तो अब जरा जल्दी-जल्दी आगे बढ़ें।

सूत्रधार ने बीज बो ही दिया है तो आगे बढ़ें, इतनी बड़ी दुनिया का खेला बनाते समय ब्रह्मा को भी खूब सारी रेत की जरूरत पड़ी होगी। वे रेत कहां से लाए होंगे। यह तो आज तक पता नहीं चल पाया है। पर जब खेला बन कर तैयार हो गया तो कुछ रेत बच गई। अब उसे कहां रख दिया जाए? ऐसा लगता है ब्रह्मा उसे थार के रेगिस्तान में छोड़ आए होंगे। कितनी मात्रा होगी उस रेत की? मत पूछिए। श्री ओम थानवीजी वहीं से हैं। ठेठ रेगिस्तान, थार के बीच बसे फलौदी शहर से। कोई 30 बरस पहले उन्हीं ने हमें कभी उंगली पकड़ कर और कभी अपनी मोटर साइकल पर पीछे बिठा कर उस सुनहरी भव्य रेत के दर्शन कराए थे।

उस बची रेत से नोएडा, ग्रेटर नोएडा तो छोड़िए, फिर से एक बार नई सृष्टि का निर्माण हो सकता है। पर इतनी दूरी से उसे लाएं कैसे, किस भाव

पड़ेगी? खर्चा कौन भुगतेगा? इतना खर्चा कर कौन- सा माफिया अरबपति बन पाएगा? तब आपके पैर के नीचे से ही रेत क्यों न निकाल ली जाए। सूत्रधार इस आशंका से घबरा जाता है। वह इसे रोकने की कोशिश करता है। नए-नए विघ्न आते हैं उसके इस सत्कार्य में। वह एक बार फिर जर्जर ध्वज की स्तुति प्रारंभ कर देता है।

मुझे ठीक याद नहीं कि नाट्य शास्त्र नामक यह ग्रंथ कब लिखा गया होगा। पर विद्वान बताते हैं कि तीसरी शताब्दी में, यानी आज से कोई सत्रह सौ बरस पहले इस ग्रंथ को नए सिरे से सजाया संवारा गया था। संपादित किया गया था।

कुछ अनावश्यक प्रसंग हटाए गए थे, कुछ उस जमाने के हिसाब से जरूरी प्रसंग जोड़े भी गए थे। इसी ग्रंथ का एक पूरा अध्याय नाटक के प्रारंभ की तैयारियों का विशद विवरण करता है। हमारे सूत्रधार ने जो कुछ भी अभी तक किया है वह इसी ग्रंथ के बारहवें अध्याय पर आधारित है।

यहां साहित्य, प्रकाशन जगत से जुड़े कई लोग बैठे हैं। उन्हें जान कर अच्छा लगेगा कि इसी विषय पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने श्री पृथ्वीनाथ द्विवेदीजी के साथ 'नाट्य शास्त्र की भारतीय परंपरा और दश रूपक' नाम की एक सुंदर पुस्तक लिखी थी। इसे आज से ठीक पचास बरस पहले सन् 1963 में राजकमल ने छापा था। दाम था दस रुपया।

वापस दुनिया के खेला पर। पचास बरस भूल जाएं। ये इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार आदि जो गिनती हम सब जानते हैं उनसे परे है। अरब-खरब ही नहीं, गिनती बताने वाले पद्म, शंख जैसे नए शब्द इसमें गली-गली घूमते हैं। इन शब्दों को तो हमने किसी और संदर्भ में सुना भी है पर ऐसे भी शब्द हैं जिन्हें प्रायः हम सुन नहीं पाते— अन्त्य— यह एक संख्या है और इसमें 1 के आगे 14 जीरो लगते हैं। 100,00,00,00,000,000 - इकाई, दहाई वाली शैली में शायद 100 खरब। इस गणित को आसानी से समझने के लिए बाद में दो और शब्द आए— अनादि और अनंत। न शुरू का कुछ पता न अंत का कोई ठीक हिसाब।

नाट्य शास्त्र हमारे हाथ आया कोई 17 सौ बरस पहले और दुनिया का खेला किस तराजू पर तुलेगा, उसके बांट कितने वजन के होंगे वह सब कल्पना से परे है।

खगोल शास्त्र के मामले में जो विस्तार है, जो फैलाव है वह तो स्टीफन हॉकिंग ही जानें पर जिसे हम कूप-मंडूक कह कर उसका मजाक उड़ाते हैं, हमारे कुंए के उस मेंढक को आकाश जितना दिखता है, हमें भी उससे ज्यादा इसका कुछ पता नहीं। हम उन्हीं दो शब्दों को अनादि-अनंत को दुहरा कर अपनी विद्वत्ता झाड़ देते हैं।

अनगिनत अभिनेता, नायक, एक से बढ़ कर एक किस्से कहानियां, वो भी हर रोज जुड़ने वाली और पूरी धरती पर फैला शानदार रंगमंच। इस खेला में दर्शक, अभिनेता का अंतर भी मिट जाता है। कभी हम अभिनय करते हैं तो कभी हम अभिनय देखते रह जाते हैं। फिर एक ही आदमी के कई रूप हो जाते हैं यहां- बहुरूपिया।

निदेशक कौन है? विज्ञान और धर्म में अभी तक ठनी है। पिछले दिनों ईश्वर का कण भी यूरोप की आधुनिकतम प्रयोगशाला में खोजने का दावा किया गया है। नए-पुराने कवि जरूर इसका उत्तर दे देते हैं— कभी निदेशक राम हैं तो कभी गोपाल हैं तो कभी रामगोपाल जी! ये निदेशक इतने भारी भरकम कि दुनिया के खेला का पूरा ठेका बस इन्हीं की कंपनी के पास। सबको बस ये ही नचाते हैं: सब ही नचावत रामगोपाल।

इस विशाल खेला में हम सब सज-धज कर एक से एक बहुरूपिये बन कर उतरते हैं, अपनी भूमिका खोजते हैं। कभी अच्छी, कभी खराब। कुछ का खेला ठीक से पूरा हो जाता है। कुछ का अधूरा छूट जाता है। कुछ का जीवन की कहानी के किसी खास मोड़ पर आ कर अटक जाता है, भटक जाता है।

तो जीवन के इस खेले को अच्छे से खेलते जाने के लिए ठीक आंख चाहिए। ठीक पांख, पंख चाहिए। इस आंख-पांख का संतुलन साध कर रखना पड़ता है। नहीं तो ऊंची से ऊंची, बड़ी से बड़ी जगह पर पहुंच कर भी हम ऐसे गिर पड़ते हैं कि फिर उठाए नहीं उठ पाते। भौतिक रूप से गिरते ही हैं, हम अपनों की नजरों में भी गिर जाते हैं। यह गिरावट हमारे खेला में कैसी फांक लाती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हमारे अभिनय में जरा-सी भी कमी, कसर रह जाए तो हमारे परिवारों को, हमारी संस्थाओं को, देशों को कितना भोगना पड़ता है यह सब जानते हैं, बूझते हैं। फिर भी जानते-बूझते इस अभिनय की खोट से कई बार विरत नहीं हो पाते हम।

अपने इन दोनों निदेशकों को ही देख लें जरा। इन दोनों ने हमें तो नचाया ही। पर जब वे खुद इस खेला में अवतार लेकर आए, उनका रंगावतरण हुआ तो वे भी नच गए थे। इन दोनों के जीवन में भी कैसी-कैसी फांक पड़ी थी—खास कर अंत में।

रामजी के साथ मर्यादा और पुरुषों में उत्तम जैसे विशेषण, गुण जुड़े ही हुए थे। जब तक आंख और पांख सही रहे तो रावण रथी, बिरथ रघुबीरा भी चल गया। ऐसा बेमेल युद्ध भी राम जीत गए। पर, आंख-पांख का संतुलन बिगड़ा नहीं कि उन्हीं के लाड़ले बेटों ने उनका घोड़ा, अश्वमेध का घोड़ा रोक लिया था। पूरा जीवन लोगों से, एक से एक समर्पित भक्तों से घिरे रहने वाले राम का अंत अकेलेपन में हुआ। सन्नाटे में हुआ। सरयू नदी में जल समाधि से हुआ। शायद ऐसी ही अनंत घटनाओं को देख दुनिया का खेला की तुक 'मैं हूँ अकेला' से जोड़ते रहे हैं कवि लोग।

श्री कृष्ण की लीला तो लीला ही है। लीला अपरंपार। पर देखें कि वे अपनी छोटी-सी उंगली से इंद्र का क्रोध निपटा देते हैं, गोवर्धन उठा कर किसी और के बसाए गए गांव को बाढ़ से बचा लेते हैं। पर उनकी खुद बसायी भव्य नगरी द्वारिका समुद्र में डूब जाती है। उसे वे बचा ही नहीं पाते।

अपिचः। संस्कृत नाटकों में उदाहरणों के बाद और उदाहरण देते समय अपिचः कहा जाता है। तो वह भी सुन लें : जिसने महाभारत के युद्ध में दोनों तरफ से तरह-तरह के शक्ति-मंत्र-पुष्ट तीरों की वर्षा सह ली हो, वह जरा नाम के— नाम पर ध्यान दें— जरा नामक बहेलिए के मामूली से तीर से अपने प्राण गवां देता है। दुनिया का खेला, कृष्णजी भी अकेला।

तो इस शानदार खेला में किसी भी चीज की कमी नहीं— इसमें से चाहे जितने किस्से निकाल लो, चाहे जितने किस्से इसमें जोड़ दो— यह उपनिषद् के शब्दों में हमेशा पूर्ण ही बना रहता है।

नाटक में नौ रस हैं, दुनिया के खेला में भी नौ रस तो हैं ही भाई पर इनमें नाटकों के अतिरिक्त एक रस और जुड़ गया है। आप सब भी हैरान होंगे कि नौ के दस कैसे हो गए। इस रस का नाम है— गन्ना रस! गन्ने का रस भी मिल जाता है। कैसे? आपने गन्ने का रस ठेले पर सामने खड़े होकर पिया ही होगा। पहले साबुत गन्ना डालते हैं। फिर एक बार रस निकल आया तो उसी गन्ने को दो बार मोड़ कर फिर रस निकाला जाता है। फिर तीसरी

बार दो के बदले तीन-चार बार मोड़ कर अदरक, नींबू लगा कर फिर निचोड़ा जाता है। जब तक इन सारे छिलकों का रस न निकल जाए— दुकान वाला रुकता ही नहीं।

इस खेले की दुकान वाला भी हम सब का रस कभी-कभी इसी शैली में निकालता है। इतना समय तो आपका बर्बाद नहीं करना है। पर दो-चार रसों में गन्ना रस देख ही लें हम।

दुख से शुरु करें। करुण रस है नाटक में। और इस खेला में पेश है एक नमूना।

कोई साठ बरस पहले की बात है। एक बांसुरी वादक थे। श्रेष्ठ पहले दर्जे के कलाकार। शायद उन दिनों के रेडियो पर भी बांसुरी बजाते थे। प्लेग फैली। परिवार में इनको मिला कर सात सदस्य थे। पत्नी मरी रोग से। बहुत ही प्रेम करते थे। अर्थी उठा श्मशान। लौटते हुए सारे रास्ते रोते रहे। संभाला मुश्किल से। घर आए तो पिता मरे मिले। सूरज ढल गया था। रात भर शरीर घर में रहा। ये सामने बैठे रोते रहे। सुबह उनका संस्कार किया। लौटे तो मां जा चुकी थीं। एक-दो-तीन। अब आंसू रुक गए थे। वे स्तब्ध मौन हो गए। अगले तीन दिनों में तीन बच्चे सदस्य और गए। अंतिम सदस्य को अग्नि देने के बाद इनका न सिर्फ मौन टूटा, ये तो जोर-जोर से हंसने लगे थे: “अरे, बंसी वाले तू मेरी परीक्षा लेना चाहता है। ले ले। मैं भी सब कुछ छोड़ वृंदावन आता हूँ। तेरी परीक्षा लेने।” पूरी जिंदगी फिर वे वृंदावन की गलियों में घूमते हर छोटे-बड़े मंदिर के सामने बांसुरी बजाते जाते।

हास्य रस में भी गन्ने का रस मिलेगा। लीजिए एकदम ताजी चीज। नेलसन मंडेला का किस्सा है अभी कुछ दिन पुराना। आजादी की अद्भुत लड़ाई लड़ी। हममें से कुछ की आधी उमर बराबर वर्ष जेल में काटे। देश को आजादी दिलाई। फिर राष्ट्रपति भी बने। पूरी दुनिया में 95 के पूरे होने पर उनका जन्मदिन मनाया गया था और इसी सबके बीच उनके शहर की नगरपालिका ने उनके ऊपर बकाया बिजली-पानी का बिल भेज दिया है— दंड समेत कुछ लाख रुपए का।

कुछ हजार बरस पीछे लौटें। ‘सौ साल जिओ’ जीवेम शरदः शतम का आशीर्वाद सबने सुना है। मृच्छकटिकम नाटक में नायक-नायिका का नाम, उनके

किस्से कई लोग जानते ही हैं। नाटक में एक चोर है शर्विलक। नायक के घर में चोरी के लिए सेंध मार कर घुसा है। विदूषक को सोता देख आशीर्वाद देता है: मैत्रेय, स्वपिहि वर्षशतम्। भैया इसी तरह सौ बरस सोते रहना।

वीभत्स रस के भयानक उदाहरण तो इस खेले में भरे पड़े हैं। कभी का भी, कहीं का भी अखबार उठा लें हंसते खेलते, खाते-पीते विज्ञापनों के बीच पूरा अखबार इसी से भरा मिलता है।

पर वीभत्स रस का किस्सा सुनना ही हो तो जनरल नैकेड बट का सुन लें। अफ्रीका का पश्चिमी-दक्षिणी छोर— लायबेरिया नाम का देश। वर्षों तक गृह युद्ध चला है यहां। इसमें एक पक्ष का सेनापति था जोशुआ। इसने अपने विरोधियों को मार कर उनके जिगर को काट कर नाश्ता भी किया है। पांच-सात बरस के बच्चों तक की सेना बना डाली। इन बच्चों को युद्ध में घसीटने के लिए वह सबसे पहले बच्चों से उनके माता-पिता की ही हत्या करवा लेता था। यह विचित्र सेनापति दूसरे पक्ष पर हमला करते समय बस पैर में सैनिक वाले भारी-भरकम जूते पहनता, हाथ में आग उगलती बंदूक, अंग पर कोई कपड़ा नहीं। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ आदि की दुनिया में इसका दूसरा नाम पड़ गया था जनरल नैकेट बट, नंगधड़ंग सेनापति। जोशुआ ने अपने ही 20,000 लोगों को मारा था, वहीं के लोग, शायद कबीला, जाति अलग थी और शायद बोली भी। सभी देशों में नवनिर्माण की यही परिभाषा है आजकल! अब इस वीभत्स रस में एकदम से अद्भुत रस जुड़ता है।

खून से सने शिखर पर खड़े जोशुआ को बंदूकों की कानफोड़ आवाजों के बीच न जाने कहां से अंतरात्मा की आवाज सुनाई पड़ जाती है। वह बंदूक फेंक देता है। चल पड़ता है तीर्थ यात्रा पर। तीर्थ कौन सा? वे सब मुहल्ले, घर जिनमें घुस-घुस कर उसने लोगों को मारा था। उनका जिगर परिवार के लोगों के सामने ही काट कर खाया था। सलाहकारों ने समझाया, ऐसा मत कर भूल कर भी। लोग छलनी बना देंगे तुम्हारी। इन रसों में अब वीर रस जुड़ता है एक नए रूप में। जोशुआ किसी की नहीं सुनता। बस अंतरात्मा की सुनता है। गजब की हिम्मत। अब वह एकदम निहत्थे, सचमुच अपनी आत्मा के बल पर, उनके बीच जाकर हाथ जोड़ कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करता है। उस पर कहीं भी हमला नहीं होता। वह लोगों के पैर छूता, खुद रोता, दूसरे रोते।

हमारे ही देश के एक युवा फोटोग्राफर भी कोई कम हिम्मत नहीं दिखाते। उनका नाम है— रॉयन लोबो। वे भी इसके पीछे-पीछे कैमरा लेकर फिल्म बनाते हैं। ये है दुनिया का विचित्र खेला।

क्रोध में किसी पर चप्पल जूते फेंकना अब कोई नई बात नहीं बची है। जूता फेंकने वाला भी क्रोधी, जिस पर फेंका वह भी आग बबूला। पर एक खेला 1914 में दक्षिण अफ्रीका में खेला गया। जनरल स्मट्स उस समय पूरी दुनिया में फैले ब्रितानी साम्राज्य के सबसे बहादुर, सबसे कुशल, सबसे योग्य, सबसे सख्त और सबसे क्रूर प्रशासक माने जाते थे। खुद गांधीजी जैसे विनम्र व्यक्ति के शब्दों में वे सबसे 'धूर्त' लोगों में गिने जाते थे। दक्षिण अफ्रीका में प्रारंभ हुए सत्याग्रह में इन दोनों के कड़वे प्रसंग कई हैं। जनरल स्मट्स ने इनको जेल में डाला था। शायद ये गांधीजी को मार डालना भी चाहते थे। न जाने कब गांधीजी की तेज आंखों ने उनके पैर का नाप लिया और उन्हें एक सैण्डल की जोड़ी अपने हाथ से बना कर भेंट की। जनरल स्मट्स ने बाद में कभी लिखा था कि उनके पैर इस योग्य नहीं कि वे इतनी पवित्र सैण्डल पहन सकें। क्रोध रस शांत रस में बदला और फिर ग्लानि तक में।

इस खेला में अक्सर हम सब को लगता है कि हम जो काम करना चाहते थे, वो तो हमें करने ही नहीं दिया गया। तो ये अच्छा खासा जमाना जालिम जमाने में बदल जाता है हमारे लिए।

तालियां कब पिटती हैं जब आपके सामने नाम, गुमनाम नहीं, नाम और नम्बर लिखी बनियान पहने ग्यारह लोग रोकने को खड़े हों। तब आप गोल कर दिखाएं। तालियां तभी बजती हैं। विघ्न इस खेला में रोज आएंगे। गुमनाम भी, नंबर और नाम वाली बनियानें पहने भी।

ऊपर कहीं दुनिया के खेला की तुकबंदी अकेला से की गई है। पर निवेदन है कि यह काम बस कवि पर ही छोड़ें। हम और आप इस खेला को ठीक से खेलना चाहते हैं तो अकेला को अकेला ही छोड़ दें। दुकेला बनें। दूसरों का साथ लें, दूसरों का साथ दें। तिकेला, चौकेला से भी बढ़कर सौकेला जैसे नए शब्द ही नहीं, नए संबंध भी बनाएं। इस खेला को, भले ही वह आपको सौतेला बनाना चाहे, आप सौतेला न बनाएं। आगे बढ़ें, इस खेला को अपने गले मिला लें।

रंगशाला चलें एक बार फिर। नाटक शुरू हो गया है। भोलामन सूत्रधार ने बीज रोपित कर दर्शकों को नाटक का नाम भी लगभग बता दिया है। बालू-भीत-पवन। रेत-दीवार-पवन। और लो विघ्न शमन के इतने प्रयासों के बाद भी रंगशाला के सामने विघ्न आने लगे हैं। अच्छा हो हम सब भी वहीं चलें और सूत्रधार की कुछ मदद करें।

नेमिचंद्र जैन स्मृति व्याख्यान
नटरंग प्रतिष्ठान, सोलह अगस्त दो हजार तेरह

शिक्षा : कितना सर्जन, कितना विसर्जन

कोई एक सौ पचासी बरस पहले की बात है। सन् 1829 की।

कोलकाता के शोभाबाजार नाम की एक जगह में एक पाठशाला की, स्कूल की स्थापना हुई थी। यह स्कूल बहुत विशिष्ट था। इसकी विशिष्टता एक विशेष व्यक्ति से ही सुनें हम। विनोबा इस स्कूल में 21 जून सन् 1963 में गए थे। उन्होंने यहां शिक्षा को लेकर एक सुंदर बातचीत की थी। उसके कुछ हिस्से हम आज यहां की बातचीत में दुहरा लें और फिर आगे की बातचीत इसी किस्से से बढ़ सकेगी।

विनोबा कहते हैं कि— “इस स्कूल से कई महान विद्यार्थी निकले। इनमें पहला स्थान शायद रवींद्रनाथ का है। उनकी स्मृति में इस स्कूल में एक शिलापट्ट भी लगाया गया है। स्कूल इस पट्ट में बहुत गौरव से बताता है कि यहां रवींद्रनाथ पढ़ते थे। यह बात अलग है कि उस समय रवींद्रनाथ को भी मालूम नहीं था कि वे ही ‘रवींद्रनाथ’ हैं। और न स्कूल वालों को, उनके संचालकों को मालूम था कि वे ‘रवींद्रनाथ’ होंगे।

“यह स्कूल आदरपूर्वक उनका स्मरण करता है। लेकिन गुरुदेव भी उस स्कूल का वैसे ही आदर के साथ स्मरण करते हों— इसका कोई ठीक प्रमाण मिलता नहीं। हां एक जगह उन्होंने यह जरूर लिखा है कि मैं पाठशाला के कारावास से मुक्त हुआ, स्कूल छोड़ कर चला गया। यानी इस स्कूल में उनका मन लगा नहीं। चित्त नहीं लगा। पर स्कूल वालों ने तो अपना चित्त उन पर लगा ही दिया था।”

विनोबा फिर इस प्रसंग को स्कूल से बिलकुल अलग एक और संस्था से जोड़ते हैं। स्कूल संस्था है गुणों के सर्जन की तो यह दूसरी संस्था है दुर्गुणों के विसर्जन की। जीवन में कुछ भयानक गलतियां, भूलें हो जाएं तो ऐसा माना जाता है कि उन भूलों को, गलतियों को मिटाने का काम इस संस्था में

होता है। यह संस्था है कारावास, जेल। इसमें सामान्य अपराधियों के अलावा सरकारें, सत्ताएं, तानाशाह आदि कई बार ऐसे लोगों को भी भीतर रखते हैं, जो उस दौर की सत्ता के हिसाब से कुछ गलत काम करते माने जाते हैं पर बाद में तो समाज उन्हें अपने मन में एक बड़ा दर्जा दे देता है।

विनोबा कहते हैं, “जिस किसी कारावास में बड़े-बड़े लोग बंदी बना कर रखे जाते हैं, बाद में उन लोगों के नाम भी वहां एक बोर्ड पर लिख दिए जाते हैं। वे यहां थे— इस पर कारावास को बड़ा गौरव का अनुभव होता है और वह उसे अब सार्वजनिक भी कर देना चाहता है।”

नैनी जेल में नेहरूजी, यरवदा जेल में गांधीजी और मंडाले में लोकमान्य तिलक और साउथ अफ्रीका की ऐसी ही किसी जेल में नेलसन मंडेला का नाम पत्थर पर उत्कीर्ण मिल जाएगा।

स्कूल और कारागार तो एक-दूसरे से नितांत भिन्न, एकदम अलग-अलग संस्थाएं होनी चाहिए— एकदम अलग-अलग स्वभाव की व्यवस्थाएं होनी चाहिए। इन्हें चलाने वाली बातें अलग भी होनी चाहिए। कारागार की समस्याएं भी पूरी दुनिया में लगभग एक-सी हैं और स्कूल की समस्याएं भी लगभग एक-सी। कारागार में सुधार होना चाहिए— इसे कहते सब हैं, मानते सब हैं पर कभी एकाध किरण चमक जाए, दो-चार योगासन सिखा दिए जाएं— हॉलीवुड और उसी की तर्ज पर बॉलीवुड भी एकाध फिल्म बना दे— इससे ज्यादा कुछ हो नहीं पाता। कारागार सुधर नहीं पाते और हमारे स्कूल तक वैसे बनने लगते हैं। किसी भी महीने के अखबार पलट लें, स्कूलों में क्या-क्या नहीं हो रहा।

रवींद्रनाथ ने विनोबा के शब्दों में कहें तो ‘सदोष और तंग तालीम’ के कारण अपने स्कूल को कारावास कहा था। लेकिन विनोबा पूछते हैं कि इन स्कूलों में यदि आज भी ऐसी ही तालीम दी जाती है तो सोचने की बात है आखिर इनका सुधार कब होगा। स्कूल ऐसा होना चाहिए, जहां बच्चे मुक्त मन से सीखें।

तो इसी कठिन काम में, स्कूलों को कारागार न बनने देने में आप सब लोग जुटे हैं। न जाने कब से लगे हैं। यह संस्था सीआईई शिक्षण के विराट संसार में अभिनव प्रयोगों को प्रोत्साहन देने के लिए ही बनी थी। इसके उद्घाटन के अवसर पर मौलाना आज़ाद का दिया गया भाषण अभी भी हमारी धरोहर

की तरह है। पढ़ना, पढ़ाना और पढ़ाने वालों को पढ़ाना— ऐसी तीन स्तर की स्कूल व्यवस्था में क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या कमी है, क्या अच्छाई है— यह तो आप सब मुझसे बेहतर ही जानते हैं। मैं उस काम के लिए यों भी अयोग्य ही साबित होऊंगा। खुद पढ़ने में, पढ़ाने में मेरी कोई खास गति नहीं थी। पुराने किस्से-कहानियों में नचिकेता का किस्सा मुझे बचपन में बहुत भा गया था। नचिकेता की मृत्यु विषयक जिज्ञासा, यम से उस बालक का संवाद आदि बातों से मेरा कोई लेना-देना नहीं था। उस कहानी में एक जगह नचिकेता, जिसे 'स्वगत भाषण' कहते हैं— वैसे कुछ बुदबुदाता है। उसी बुदबुदाहट में यह पता चलता है कि नचिकेता कोई बहुत होशियार छात्र नहीं रहा है! न वह अगली पंक्ति का छात्र था और न एकदम पिछली पंक्ति का। जरा औसत किस्म का छात्र था वह।

मैं भी ऐसा ही औसत दर्जे का छात्र रहा, पढ़ाई के अपने पूरे दौर में।

इस औसत दर्जे पर मैंने और आगे सोचा। कोई अध्ययन जैसा, निष्कर्ष जैसा काम तो नहीं किया पर इसे दूसरी पीढ़ी को भी सौंपने का काम सहज ही कर लिया था मैंने। प्राथमिक शिक्षा के दौर में अपने जीवन की जब पहली परीक्षा देकर मेरा बेटा कुछ चिंतित-सा घर लौटा था तो मैंने पूछ ही लिया था कि क्या बात है ऐसी। उत्तर था पर्चा अच्छा नहीं हुआ। वह और आगे कुछ बताता, उससे पहले ही मैंने पूछा था कि तुम्हारी कक्षा में और कितने साथी हैं? उत्तर था— चालीस।

“तब तो किसी न किसी को चालीसवां नंबर भी आना पड़ेगा। वह तुम भी हो सकते हो। मुझे इससे कोई परेशानी नहीं होगी और तुम्हें भी नहीं होनी चाहिए।”

यह जो नंबर गेम चल पड़ा है, इसका कोई अंत नहीं है। कृष्णकुमारजी ने बहुत पहले एक सुंदर लेख लिखा था, शायद आज से कोई छह बरस पहले— जीरो सम गेम। नंबरों के इस खेल में किसी को कोई लाभ नहीं हो रहा, लेकिन हमारी एक-दो पीढ़ियों को तो इसमें झोंक ही दिया गया है।

घर का कचरा तो कभी-कभी दरी के नीचे भी डाल कर छिपा दिया जाता है पर समाज में यदि यह भावना बढ़ती गई कि 90 प्रतिशत से नीचे का कोई अर्थ नहीं तो हर वर्ष हमारी शिक्षण संस्थाओं से निकले इतने सारे असफल बता दिए गए छात्र कहां जाएंगे? कितनी बड़ी दरी चाहिए नब्बे प्रतिशत से

कम वाले इस नए कचरे को छिपाने? मीटरों नहीं, किलोमीटरों लंबी-चौड़ी दरी। लगभग पूरा देश ढंक जाए इतनी बड़ी दरी बनानी पड़ेगी। फिर दरी के नीचे छिपे नब्बे के नीचे वाले भला कब तक शांत बैठेंगे— दरी में वे जगह-जगह छेद करेंगे, उसे फाड़ कर ऊपर झाकेंगे।

मैंने तय किया था कि आज आप सबके बीच में ऐसे एक स्कूल का किस्सा रखूंगा जो इस 90-99 के फेर से बचा रहा। ऐसा बचा कि उसने 90-99 के फेर को अपने आसपास के लोगों तक को ठीक से समझाया और एक ऐसा काम कर दिखाया जो हम खुद भी नहीं कर पाते— उसने समाज में अच्छी शिक्षा के दरवाजे खोले, मगर अपने स्कूल के दरवाजे बंद कर दिए!

99 का फेर हमारे बच्चों में अपूर्णता की ग्लानि भरता है। वह उन्हें जताता रहता है कि इससे कम नंबर आने पर तुम न अपने काम के हो, न घर के काम के और न समाज के काम के। फिर वे खुद भी ऐसा मानने लगते हैं, उनके माता-पिता भी उन्हें इसी तरह देखने लगते हैं। फिर ये तीनों विभाजन एक ही रूप में समा जाते हैं। वह रूप है रोज-रोज बढ़ता बाजार। तुम बाजार के काम के नहीं। तुम पूरे नहीं हो, पूर्ण नहीं। अपूर्ण हो। निहायत बेवकूफ हो। खुद पर भी बोझा हो, हम पर भी बोझा। हर साल ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जो बताते हैं कि 99 न आ पाने का, अपूर्णता का बोझा कितना भारी हो जाता है। उस भारी बोझ को उठाकर जीवन जीने के बदले इन कोमल बच्चों को, किशोर छात्रों को अपनी जान दे देना, आत्महत्या करना ज्यादा ठीक लगता है।

इस स्कूल पर आने से पहले एक बार फिर विनोबा का सहारा ले लें। वे रवींद्रनाथ के स्कूल वाले प्रसंग में ही एक बहुत ऊंची बात कहते हैं। वे बच्चों को भी उतना ही पूर्ण मानते हैं, जितने पूर्ण उनके माता-पिता हैं। वे ईश उपनिषद् के पूर्णमदः पूर्णमिदम का उल्लेख करते हैं। यह भी पूर्ण, वह भी पूर्ण। मां-बाप भी पूर्ण, बच्चे भी पूर्ण और उनके शिक्षक भी पूर्ण। यदि मां-बाप की अपूर्णता देख कर बच्चे को शिक्षा दोगे तो पहले तो छात्र अपूर्ण दिखेगा और फिर मां-बाप शिक्षक में भी अपूर्णता देखने लगेंगे।

यह जरा कठिन-सी बात लगती है— पूर्णता और अपूर्णता की। लेकिन बच्चे को पूर्ण समझ कर तालीम देने लगे तो कल शिक्षण का ढंग ही बदल

जाएगा। विनोबा कहते हैं कि इसके लिए बच्चे के आसपास की सारी सृष्टि आनंदमय होनी चाहिए। स्कूल भी आनंदमय होना चाहिए। तब स्कूल में छुट्टी का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि वह कोई सजा तो नहीं है। वह तो आनंद का विषय है।

ऐसी बातें 'दूर की कौड़ी' लगेंगी। पर समय-समय पर अनेक शिक्षाविदों ने, शिक्षाशास्त्रियों ने, क्रांतिकारियों तक ने, उन सबने जिनने समाज की शिक्षा पर कुछ सोचा-समझा था— उनने 'आकाश कुसुम' जैसी कल्पनाएं की तो हैं। उनके नाम देसी भी हैं, विदेशी भी। पढ़ाने का पूरा शास्त्र जानने वाले आप सब उन नामों से मुझसे कहीं ज्यादा परिचित हैं। और इसमें भी शक नहीं कि निराशा के एक लंबे दौर में सांस लेते हममें से ज्यादातर को लगेगा कि ऐसा होता नहीं है।

लेकिन दून या ऋषि जैसे परिचित नामों से अलग हट कर एक गुमनाम स्कूल की यात्रा करेंगे आज।

स्कूल का नाम नहीं पर वहां पहुंचने के लिए कुछ तो छोर पकड़ना पड़ेगा न। इसलिए गांव के नाम से शुरू करते हैं यह यात्रा। गांव है— लापोड़िया। जयपुर जिले में अजमेर के रास्ते मुख्य सड़क छोड़कर कोई 20-22 किलोमीटर बाएं हाथ पर।

यहां नवयुवकों की एक छोटी-सी टोली कुछ सामाजिक कामों में, खेलकूद में, भजन आदि गाने में लगी थी। गांव में एक सरकारी स्कूल था। पर सब बच्चे उसमें जाते नहीं थे। शायद तब सरकार को भी 'सर्व शिक्षा अभियान' सूझा नहीं था। गांव में पुरखों के बने तीन बड़े तालाब थे, पर वे न जाने कब से टूटे पड़े थे। बरसात होती थी पर इन तालाबों में पानी नहीं टिकता था। अगल-बगल से बह जाता था। इन्हें सुधारे कौन। पंचायत तो ग्राम विकास की योजनाएं बनाती थी! और उन योजनाओं में यह सब तो आता नहीं था।

गांव में पशु-बकरी, गाय, बैल काफी थे। और चराने के लिए ग्वाले थे। ग्वाले ज्यादातर बच्चे ही थे, किशोर, जिन्हें आप सब शायद 'दूसरा दशक' के नाम से भी जानते हैं। गोचर था जरूर पर हर गांव की तरह इस पर कई तरह के कब्जे थे। घास-चारा था नहीं वहां। इसलिए ये ग्वाले पशुओं को दूर-दूर चराने ले जाते थे।

नवयुवकों की छोटी-सी टोली इन्हीं में घूमती थी। किसी पेड़ के नीचे बैठ उन्हें भजन सिखाती, गीत गवाती। इस टोली के नायक लक्ष्मणसिंहजी से आप पूछेंगे तो वे बड़े ही सहज ढंग से बताते हैं कि कोई बड़ा ऊंचा विचार नहीं था हमारे पास। न हम नई तालीम जानते थे, न पुरानी तालीम और न किसी तरह की सरकारी तालीम। शिक्षा का कहने लायक कोई विचार हमें पता नहीं था।

यह किस्सा है सन् 1977 का। दिन भर ऐसे ही गाते-बजाते पशु चराते। एक साथी थे गोपाल टेलर। इतनी अंग्रेजी आ गई थी कि दर्जी के बदले टेलर शब्द ज्यादा वजन रखता है बस। तो गोपाल टेलर को लगा कि दिन में तो ये सब काम होते ही हैं, रात को एक लालटेन जला कर कुछ लिखना-पढ़ना भी तो सीखना चाहिए।

सरकारी स्कूल था पर उसमें तो 'भरती' होना पड़ता था, रोज दिन को जाना पड़ता था। रात को कोई क्यों पढ़ाएगा? मन में सरकारी शाला के समानांतर कोई रात्रि शाला खोलने जैसी भी कोई कल्पना नहीं थी। सरकार के टक्कर पर कोई प्राइवेट स्कूल भी खोलने की न तो इच्छा थी, न हैसियत। लक्ष्मणसिंहजी बताते हैं कि अच्छे विचारों को उतारने में समय लगता है, मेहनत लगती है, साधन लगते हैं— यह सब भी हमें कुछ पता नहीं था। नहीं तो हम तो इस सबसे घबरा जाते और फिर कुछ हो नहीं पाता। हमारे पास तो बस दो चीजें थीं— धीरज और आनंद।

गांव को पता भी नहीं चला और गांव में सरकारी स्कूल के रहते हुए एक 'और' स्कूल खुल गया। हमें भी नहीं पता चला कि यह कब खुल गया। स्कूल खुल ही गया तो हमें पता चले उसके गुण। कौन से गुण, और क्या ये सचमुच गुण ही थे। यह सूची बहुत लंबी है। आप जैसे शिक्षाविद इन पर काम करेंगे तो हमें इन गुणों को और भी समझने का मौका मिलेगा।

किससे करवाते उद्घाटन, क्यों करवाते उद्घाटन जब पता ही नहीं कि यह स्कूल कब खुल गया? स्कूल का नाम भी नहीं रखा था, नाम तो तब रखते जब पता रहता कि कोई स्कूल खुलने जा रहा है। जब बिना नाम का स्कूल खुल ही गया तो फिर तो यही सोचने लगे कि स्कूल का नाम क्यों रखना। क्या यह भी कोई जरूरी चीज है? बिना नाम के काम तो अच्छा चल रहा है।

नेताओं के नाम पर बने स्कूलों की कमी नहीं। क्रांतिकारियों, शहीदों, संतों, मुनियों, ऋतुओं, ऋषियों और तो और जात-बिरादरी के ऊंचे और छुटभैये नेताओं के नाम पर भी सब तरफ स्कूल हैं ही। पर सचमुच अगर पूरे देश में हर गांव में स्कूल खोलने हों तो कोई पांच-सात लाख नामों की जरूरत पड़ेगी। नया क्या हो पाएगा? तो कुछ मत करो। गुमनाम स्कूल चल पड़ा। बच्चों से कहा जा रहे हो जैसे प्रश्न पूछने वाले लोग थे नहीं। न पोशाक थी, न वर्दी थी, बस्ता बोझ वाला भी नहीं था, बिना बोझ वाला बस्ता भी नहीं था। स्कूल जैसा कुछ था नहीं तो नाम किसका रखते!

भवन नहीं था, न अच्छा, न गिरता-पड़ता। चलता-फिरता स्कूल था। आज यहां, कल वहां। गर्मी के मौसम में बड़े बरगद के नीचे, ठंड के दिनों में खुले में धूप के साथ। प्रश्न पूछने वालों की क्या कमी। कोई पूछ ही बैठे कि और बरसात के दिनों में कहाँ लगाओगे स्कूल? तो उत्तर मिलता कि सब बच्चे तो किसान-परिवार से हैं। बरसात में वे सब अपने खेतों में काम करते हैं। यानी तब अनध्याय, छुट्टी रखी जाएगी क्या? उत्तर मिलता कि नहीं। उन दिनों हमारे बच्चे गुणा-भाग सीखते हैं। गुणा-भाग कैसा? भगवान का गुणा-भाग। एक मुट्ठी गेहूं बोने से जो पौधे उगेंगे, उनकी बाली गिन कर तो देखो। प्रकृति का विराट गुणा-भाग समझने का इतना सुंदर मौका कब मिलेगा। सारे सरल और कठिन गुणा-भाग, दो दूनी चार जैसे सारे पहाड़ों का पहाड़, गणित का पहाड़ भी खेती के गुणा-भाग से छोटा ही, बौना ही होगा। यह नया बीज-गणित, बीजों का गणित जीवन के शिक्षण का भाग बन गया था।

कक्षाओं का शुरू में विभाजन नहीं था। पर धीरे-धीरे पहली टोली के बच्चे आगे बढ़े तो वे अपने आप दूसरी कक्षा में आ गए। वे अपने पीछे जो खाली जगह कर आए थे, उसमें अब उत्साह से एक नई जमात आ गई। पर पहली कक्षा में पढ़ा क्या? कौन-सा पाठ्यक्रम? कोई बना बनाया ढांचा नहीं रखा गया था। जो अक्षर ज्ञान सरकारी स्कूल में पढ़ाया जाता था, या कहे 'नहीं पढ़ाया' जाता था, उसे यहां बिना डांटे-फटकारे पढ़ा दिया था। और साथ में अनगिनत नई बातें, जानकारियां पाठ्यक्रम के अलावा भी। कुछ पचास पेड़-पौधों के नाम तो उन्हें आते ही थे, लेकिन अब उन नामों को लिखना भी आ गया था।

पहली से दूसरी कक्षा के बीच यों कोई दीवार तो नहीं थी, भवन ही नहीं था। फिर भी बच्चों को लगा कि स्कूलों में परीक्षा होती है तो हमारी परीक्षा

कब होगी? इस अभिनव पाठशाला को चलाने वाली नवयुवकों की टोली खुद कोई बड़ी पढ़ी-लिखी तो थी नहीं। आपस में बैठ दो-चार तरह के प्रश्न—भाषा, अक्षर ज्ञान, गिनती आदि के बना लिए। एकाध वर्ष इस तरह से पर्चे बने, पर्चे जांचे भी गए और पास-फेल बताने के बदले बच्चों को बुलाकर उनकी गलतियां वगैरह जो थीं, वो सब समझा दीं और उन्हें अगली कक्षा में भेज दिया।

फिर इस टोली को लगा कि जीवन में प्रश्न पूछना भी तो आना चाहिए बच्चों को। क्यों न हम उन्हें अभी से प्रश्न पूछना सिखाने लें। इससे हम भी कुछ नया सीखेंगे, वे भी। तय हुआ कि हरेक छात्र एक प्रश्न पत्र खुद बनाएगा। बीस छात्रों की कक्षा में एक ही विषय पर बीस प्रश्न पत्र तैयार हो गए। यह भी निर्णय किया गया कि उन्हें आपस में पत्तों की तरह फीट कर एक दूसरे में बांट दिया जाए। देखा गया कि सभी प्रश्न पत्र ठीक-ठाक बने थे, न बड़े सरल, न बहुत कठिन। उत्तरों की जांच टोली के सदस्यों ने ही की।

एकाध वर्ष इसी तरह चला। फिर यह बात भी ध्यान में आई कि प्रश्न जब बच्चे बना ही रहें हैं तो उत्तर पुस्तिका की जांच हम क्यों करें ! यह काम भी बच्चों पर डाल कर देखना चाहिए। आखिर जीवन में अपना खुद का मूल्यांकन संतुलित ढंग से करना भी आना चाहिए। न अपने को कोई तीसमारखां समझे और न दूसरों से गया गुजरा। सहज आत्मविश्वास से बच्चों का मन खुलना और खिलना चाहिए। प्रश्न भी तुम्हीं पूछो, उत्तरों की जांच-पड़ताल भी तुम्हीं करो अब। टोली की जरूरत पड़े तो मदद ली जा सकती है। 'अपना हाथ जगन्नाथ' जैसे मुहावरे पढ़ तो लो पर उन्हें अपने जीवन से दूर ही रखो।

इस गुमनाम स्कूल का कोई संचालक मंडल नहीं था। अध्यक्ष, सदस्य, मंत्री, प्रधानाचार्य, कोषाध्यक्ष जैसा कोई पद नहीं था। महीने में कुल जितना खर्च होता, उतना चंदा माता-पिता से मिल जाए तो फीस क्यों लेना। कई बार कोई कहता कि फसल कटने पर हम कुछ दे पाएंगे, अभी तो है नहीं। स्कूल में कोई रजिस्टर नहीं था, इसलिए फीस, हाजरी, किसने दिया पैसा, किसने नहीं— ऐसा कुछ भी रिकॉर्ड नहीं रखा गया।

बच्चे पढ़ रहे थे, खेल रहे थे, आनंद कर रहे थे। गांव में इन नवयुवकों की टोली की एक संस्था भी थी— ग्राम विकास नवयुवक मंडल। उसमें कई तरह के मेहमान आते थे। कभी आसपास से तो कभी दूर-दूर से भी। टोली उन मेहमानों से भी कहती कि थोड़ा समय निकालें और बच्चों से भी बातें करें।

क्या बातें? कुछ भी बताएं जो आपको ठीक लगे। एक वर्ष में 25-30 'विजिटिंग फैकल्टी'। राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय 'शिक्षक'। तरह-तरह की जानकारियां देने वाले शिक्षक। स्कूल चल पड़ा मजे-मजे में।

इधर इन बच्चों के चेहरों पर सचमुच ज्ञान की एक चमक-सी दिखने लगी थी। जो परिवार अपने बच्चों को सरकारी स्कूल भेज रहे थे, वे भी अब कभी-कभी इस विचित्र स्कूल में आने लगे थे। उन्हें भी यहां का वातावरण खुला-खुला-सा दिखा। डांट-फटकार, मारा-पीटी कुछ नहीं। बच्चे महकते-से, चहकते-से दिखते थे। कुछ परिवारों ने अपने बच्चों को सरकारी स्कूल से निकाल कर इस स्कूल में डाल दिया।

नवयुवकों की टोली को लगा कि एक ही गांव में कम से कम शिक्षा को लेकर होड़ नहीं मचनी चाहिए। लक्ष्मणसिंहजी एक दिन सरकारी स्कूल चले गए। प्रधान मास्टरजी से मिले। बड़ी विनम्रता से उन्हें भी अपने स्कूल आने का निमंत्रण दिया। कहा ये भी आपके ही बच्चे हैं, आपका ही स्कूल है। आपके यहां थोड़ी भीड़ ज्यादा हो गई थी तो वहां कुछ कर लिया है।

धीरे-धीरे वहां के एकाध मास्टर इधर भी आने लगे। वे यहां के बच्चों में ज्यादा रमने लगे। एक बड़ा अंतर तो समझदारी का था। ऊधम यहां बिलकुल नहीं था। बचपन था लेकिन बचपना नहीं था। उमर में सयाने हुए बिना बच्चे व्यवहार में कितने सयाने हो सकते हैं— इसका कुछ चित्र उभरने लगा था।

इस बीच गांव के तीनों टूटे तालाब भी नवयुवकों की टोली और उनकी संस्था को बाहर से मिली कुछ मदद से बन गए थे। यहां पानी कम ही बरसता है। कोई 24 इंच। पर अब जितना भी बरसता, उसे रोकने का पूरा प्रबंध हो गया था। तब आई बारी गांव के गोचर को ठीक करने की, कब्जे हटाने की। फिर इस आंदोलन में इस स्कूल के सभी बच्चों ने भी भाग लिया। कभी-कभी तो ठंड की रातें गोचर में रजाई ओढ़ कर पहरा देते हुए भी कार्टीं— अपने माता-पिता के साथ।

गांव में सभी जातियों के परिवार हैं। चोरी-छिपे कई परिवार आसपास के हिरण, खरगोश का शिकार करते थे। गोचर उजड़ जाने से इनकी संख्या भी कम हो गई थी। पर गोचर सुधरने लगा तो वन के ये छोटे पशु भी आने लगे।

तब गांव लापोड़िया ने सबकी बैठक कर शिकार न खेलने का संकल्प लिया। इसका स्कूल से यों कोई खास संबंध नहीं दिखेगा। पर शहर के अपने

बच्चे स्कूलों की तरफ से कभी-कभी चिड़ियाघर जाते हैं न। लापोड़िया गांव ने अपने पूरे क्षेत्र को खुला चिड़ियाघर घोषित किया। सब की निगरानी से। इसमें स्कूल ने भी साथ दिया— जगह-जगह वन्य प्राणियों के संरक्षण, संवर्धन के बोर्ड बना कर लगा दिए। और उस इबारत को लोगों के मन में भी उतारने की कोशिश की।

इस खुले चिड़ियाघर में शहरों के चिड़ियाघरों की तरह भले ही शेर, हाथी या जिराफ न हों लेकिन जो भी जानवर और पक्षी थे, वे इस स्कूल की तरह ही खुले में घूमते थे और उनके बीच घूमते थे इस अनोखे स्कूल के ये बच्चे।

स्कूल की कक्षाएं आगे बढ़ती गईं। पहली दूसरी हो गई, दूसरी तीसरी। इस तरह जब पहली बार सातवीं कक्षा आठवीं बनी तो आठवीं के बोर्ड की ऊंची दीवार बच्चों के सामने खड़ी थी। यह दीवार पहली बार आई थी। सन् 1985 की बात होगी। अब तक तो वे खुद अपनी परीक्षा लेते थे, खुद ही प्रश्न बनाते थे, खुद ही अपने उत्तरों को सावधानी से जांचते थे। अब उन्हें दूसरों के बनाए प्रश्न-पत्र मिलने वाले थे। उनके उत्तर भी कोई और जांचने वाले थे। लेकिन बच्चों को, इस टोली को और उनके माता-पिता को भी इसकी कोई खास चिंता नहीं थी। देश के न जाने कितने क्षेत्रों में बोर्ड की परीक्षा का भूत मंडराने लगता है। उस अदृश्य डर से यह स्कूल मुक्त था।

पूरी तैयारी थी पहली बार आठवीं की एक अपरिचित बाधा से मिलने की। सब बच्चों के फॉर्म राज्य शिक्षा बोर्ड में प्राइवेट छात्र की तरह जमा कराए गए। वहीं के सरकारी स्कूल में उन्हें परीक्षा में बैठने की अनुमति मिली। अपने स्कूल में परीक्षा भी अपनी ही थी। तुरंत परिणाम आ जाता था। यहां शिक्षा मंडल का विशाल संगठन था। पूरे राज्य में फैला हुआ। इसलिए परिणाम आने में लंबा इंतजार करना पड़ा। पर जो बच्चे परीक्षा दे चुके थे, उन्होंने इस बीच में स्कूल आना बंद नहीं किया। वे हमेशा की तरह आते रहे। नई-नई चीजें करते रहे, अपने से छोटे बच्चों को पढ़ाते भी रहे।

परिणाम आया। इस गुमनाम स्कूल की पूरी कक्षा इस दीवार को मजे में फांद गई थी। परिणाम शत-प्रतिशत था।

बच्चों की संख्या भी बढ़ चली थी, इसलिए शिक्षकों की जरूरत भी पड़ी। पर यह संख्या दो या तीन से ज्यादा कभी नहीं हो पाई। बाकी पढ़ाई बच्चे मिल कर करते। बड़ी कक्षा के बच्चे छोटी कक्षा को पढ़ाते। अंग्रेजी,

विज्ञान और गणित में थोड़ा अभ्यास रखने वाले रामनारायण बुनकर और किसी अन्य शहर से विवाह कर गांव में आई राजेश कंवर ने मदद दी। पर ये भी बच्चों को पढ़ाने की कोई डिग्री नहीं रखते थे। पढ़ाते-पढ़ाते सीखते गए, सिखाते गए।

बच्चे सन् 1985 के बाद हर साल आठवीं की एक दीवार कूदते-फांदते रहे। हां स्कूल की इमारत तो कभी-भी नहीं बनी, पर कुछ वर्ष बाद पाठ्यक्रम की किताबें बढ़ने लगीं। तो कुछ नई खरीद करनी पड़ी। इन किताबों-कॉपियों को रोज-रोज घर से भारी बस्ते में लाना और फिर स्कूल से वापस घर ले जाने के नियम भी बड़े लचीले रखे गए। चाहो तो ले आओ, चाहो तो ले जाओ। एक घर में किसी कोने में बनी आलमारियों में सबके बस्ते रखने का इंतजाम भी हो गया था। जिसे 'होमवर्क' कहा जाता है, वह यहां नहीं था। यों भी घर में कोई कम काम होते हैं क्या? घर के ऐसे कामों में माता-पिता का हाथ बटाना भी तो एक शिक्षण ही है।

स्कूल में जब ठीक मानी गई संख्या में शिक्षक ही नहीं थे तो चपरासी जैसा पद भी कहां होता। देश भर के, शायद दुनिया भर के स्कूलों में बजने वाली घंटी यहां नहीं बजती थी। इसलिए दिन का समय अलग-अलग विषयों के घंटों में बांटा नहीं जाता था।

आज भाषा पढ़ रहे हैं तो दो-चार दिन भाषा, व्याकरण, उच्चारण, विभक्तियां— सब कुछ अच्छे-से पढ़ समझ लो। फिर बारी गणित की आ गई तो दो-चार दिन गुणा-भाग का मजा लो। कभी-कभी तो एक ही विषय पूरे हफ्ते चल जाता। पचास मिनट की तलवार किसी के सिर पर नहीं लटकती थी— न शिक्षक पर न छात्र पर।

फिर स्कूल में किसी घर से एक अखबार भी आने लगा। बड़े बच्चों को किताबों के अलावा अखबार पढ़ने की भी इच्छा हो तो वह पूरी की जानी चाहिए। गांव के सभी घरों में यों भी अखबार नहीं आता था। स्कूल में अखबार आने लगा तो सब उसे पढ़ने लगे। फिर बच्चों ने अखबार की खबरों पर टिप्पणी भी देना, अपनी पसंद, नापसंद भी बताना शुरू किया। अब वे थोड़ा आगे बढ़े। खुद हाथ का लिखा दो-चार पन्ने का एक अखबार भी निकालने लगे। स्कूल का नाम नहीं था, तो अखबार भी बिना नाम का निकाला। हफ्ते में एक बार। हाथ से गांव की, स्कूल की, खेती-बाड़ी की, आसपास की

खबरें, टिप्पणियां लिखी जातीं। गांव से 20 किलोमीटर दूर जयपुर-अजमेर सड़क पर दूदू कस्बे में फोटो कॉपी मशीन थी। शहर आते-जाते किसी के हाथ से हस्तलिखित सामग्री भेज दी जाती। कोई सौ प्रतियां फोटो कॉपी होकर वापस आ जातीं। इसे बच्चों के अलावा गांव के बड़े लोग भी खरीदते। फिर चाय तक की दुकानों पर इसे पढ़ा जाने लगा था। आठ आना या एक रुपया दाम भी रखा गया ताकि फोटो कॉपी का खर्च निकल आए। कोशिश की जाती कि अधिक से अधिक बच्चे इसमें अपनी राय रखें, कुछ न कुछ सब लिखें।

ऐसा स्कूल चला सकने वाली टोली, उसका गांव अभी एक और विचित्र प्रयोग करने जा रहा था।

गांव ने शिकार बंद कर दिया था। वन्य प्राणियों का संरक्षण गांव खुद कर रहा था। खुले चिड़ियाघर का जिक्र पहले ही आ चुका है।

गांव के तीनों तालाब ठीक होकर अब लबालब भरने लगे थे। एक तालाब पर चुग्गा भी रखा जाने लगा था। हर घर अपनी फसल से कुछ अनाज निकाल कर इस चुग्गा-घर में बनी एक कोठरी में जमा करता था। यहां से इसका एक अंश रोज निकाल कर एक विशेष बने चबूतरे पर डाल दिया जाता। इस ऊंचे चबूतरे पर बिल्ली-कुत्ते झपट नहीं सकते थे। आसपास की कई तरह की चिड़ियों के झुंड यहां बेफिक्र आते और दाना चुगते थे। सुबह से शाम तक चहचहाहट बनी रहती थी।

चूहे कहां नहीं हैं। लापोड़िया में भी खूब थे। किसानों के घरों में कहीं न कहीं तो अनाज की बोरियां होंगी ही। एक दिन लक्ष्मणसिंहजी को लगा कि हम सब घरों में चूहों को पकड़ने के लिए पिंजरे रखते हैं। पकड़ते तो खुद हैं पर फिर बच्चों को पिंजरा थमा कर कहते हैं, बाहर छोड़ कर आओ या मार दो। पेड़ बचा रहे हैं, वन्य प्राणी बचा रहे हैं, लेकिन घर के प्राणी को, चूहे को मार रहे हैं।

“इस चूहे ने हमारा भला ऐसा क्या बिगाड़ा है? सिद्धि विनायक की पूजा करने बड़े-बड़े लोगों के जाने की खबरें छपती हैं, कैलेंडरों में तरह-तरह के गणेशजी मिलते हैं और उन्हीं के पास बैठा रहता है यह चूहा। पर हम उसे न जाने कब से मारे चले आ रहे हैं। न संत उसे बचाते हैं, न मुनि लोग, न सरकारें। अरे कई राज्य सरकारें तो चूहा मारने के लिए इनाम भी देती हैं। अनाज का दुश्मन नंबर एक मानती है सरकार चूहों को।”

गांव के कुछ लोग मिलकर बैठे। बातचीत चली कि इस पर क्या किया जा सकता है। सबने माना कि अनाज भी बचे और चूहा भी। प्रयोग के तौर पर गांव की आबादी से दो-चार कदम की दूरी पर एक चूहाघर बनाने का निर्णय हुआ। न जीव दया का नारा। न अहिंसा को परमधर्म बताने का ऊंचा झंडा। बस प्रकृति को समझकर अपना कर्तव्य निभाने की एक कोशिश भर करने की बात थी।

कोई दस बीघा जमीन इस काम के लिए, इस चूहाघर के लिए निकाली गई। एक तरह की झाड़ी से बाड़ लगाई ताकि एकदम बिल्ली कुत्ते न घुस पाएं। सबको बता दिया गया कि घरों में चूहों को पकड़ें तो मारें नहीं, इस चूहाघर में ला कर उन्हें छोड़ दें।

घर के कोनों में दुबके चूहे जब यहां दस बीघा में छूटने लगे तो उन्हें कैसा लगा— ये तो टीवी वाले उनसे कभी पूछ ही लेंगे। पर जो यहां चूहे आए उनने अपने शानदार बिल बनाने शुरू कर दिए। कुछ ही समय में चूहाघर आबाद हो गया, बस्ती बस गई। गांव में चील, उल्लू भी हैं, सांप भी, बिल्ली भी हैं, चूहे भी। प्रकृति में सब कुछ सबके सहारे मिल-जुलकर चलता है।

गांव में चूहाघर बना गया। वहां के पेड़ों पर जो चिड़ियां बैठतीं, उनकी बीट से तरह-तरह की घास के बीज नीचे गिरते। चूहाघर में बिल बन गए, आसपास घास उग आई। उन्हें जितना भोजन चाहिए, उतना मिल गया, जितनी सुरक्षा मिलनी चाहिए, घास के कारण उतनी सुरक्षा मिल गई और जितने चूहे इन चील, उल्लुओं को चाहिए, उतने उन्हें मिल ही जाते होंगे।

चूहाघर बने अब दस वर्ष पूरे हो रहे हैं। गांव में चूहों की आबादी नहीं बढ़ी है। प्रकृति संतुलन खुद रखती है। हमारी तरह चूहे भी आबादी का महत्त्व जानते हैं। शायद वे खुद अपनी आबादी पर नियंत्रण रखे हैं।

तो क्या घरों में चूहे एकदम खतम हो गए हैं? अब वे घरों में नहीं आते? ऐसे सवाल पूछने पर लक्ष्मणसिंहजी बड़े ही सहज ढंग से उत्तर देते हैं कि देखिए आप भी कभी-कभी घर का खाना खाते-खाते अघा जाते हैं तो किसी दिन होटल में, ढाबे में चले ही जाते हैं। इसी तरह एकाध बार ये चूहे भी अपना घर छोड़ कर हमारे घरों में आकर हलवा-पूरी या कुछ तो भी खा जाते हैं पर अब प्रायः वे घरों के भीतर वैसे नहीं रहते जैसे पहले रहते थे। अब उनके अपने घर हैं, आरामदेह बिल हैं— यह जीवन उनके लिए ज्यादा

स्वाभाविक है, सहज है। शायद ज्यादा आनंद का है। घर के कारागार से उनकी मुक्ति हुई है।

कारागार से फिर स्कूल को याद कर लें। लापोड़िया ने स्कूल को आनंदधाम बनाया। फिर देखा कि गांव का सरकारी स्कूल भी थोड़ा-थोड़ा सुधार चला है। नवयुवकों की इस टोली ने सन् 2006 में तय किया कि हमें किसी की होड़ में तो स्कूल चलाना नहीं था। तो क्यों न इसे अब बंद कर दें।

सृजन किया था जैसे चुपचाप, उसी तरह एक दिन उस स्कूल का विसर्जन कर दिया। न नाम था, न भवन, न बैंक में कोई खाता था, न कोई संचालक मंडल। न ऐसे शिक्षक थे, जिन्हें स्कूल बंद करने के बाद किसी तरह की बेरोजगारी का सामना करना पड़ता। या कि वे धरना देते दरवाजे पर। सबने मिल कर शुरू किया था। सबने मिल कर उसे सिरा दिया, उसका विसर्जन कर दिया।

विसर्जित होकर यह विचार पूरे गांव में फैल गया है। लोग अच्छी बातें सीखने की कोशिश करते हैं, बुरी बातों को विसर्जित करने का प्रयास करते हैं। सब अच्छा सीख गए, सब बुरा मिटा दिया— ऐसा तो नहीं कह सकते पर इसी लंबे दौर में इस क्षेत्र में 9 वर्ष का भयानक अकाल पड़ा था। आधे से कम बरसात गिरी थी, पर गांव में एक बूंद पानी की कमी नहीं थी। गांव के तीनों तालाब ऊपर से सूख गए थे पर इनने गांव के भूजल को इतना संपन्न बना दिया था कि कोई सौ कुंओं में से एक भी कुंआ सूखा नहीं था, नौ साल के अकाल में। पूरे दौर में ठीक-ठीक फसल होती रही हर खेत में। गांव के बच्चों को दूध तक मिलता रहा, वहां के गोचर के कारण। जयपुर की सरस डेयरी को भी इस अकालग्रस्त गांव से सबसे पौष्टिक दूध मिला। सरकार ने उसका प्रमाणपत्र भी दिया था तब।

फिर कोई चार साल पहले इस इलाके में इतना अधिक पानी गिरा कि जयपुर शहर में भी बाढ़ आ गई, आसपास के कई गांव डूबे थे तब। पर लापोड़िया बाढ़ में डूबा नहीं। उसके तालाबों ने फिर सारा अतिरिक्त पानी आने वाले दौर के लिए समेट लिया था।

लापोड़िया गांव ने न तो सरकारी स्कूल की निंदा की, न कोई निजी प्राइवेट स्कूल उसकी टक्कर पर खोला, न किसी कारपोरेट को, कंपनी को उसकी सामाजिक जिम्मेदारी जता कर शिक्षा में सुधार की योजना बनाई। उसने ममत्व,

‘यह तो मेरा है’ मान कर एक गुमनाम स्कूल खोला, शिक्षण को कक्षा की दीवारों से उठा कर पूरे गांव में फैलाने का विनम्र प्रयास किया और फिर उसे चुपचाप समेट भी लिया। एक भी पुस्तिका या कोई लेख इस प्रयोग को अमर बनाने के लिए उसने छपा नहीं।

आप सभी शिक्षा के संसार में बाकी संसार की तरह आ रही गिरावट की चिंता कर रहे हैं, उसे अपने-अपने ढंग से संभाल भी रहे हैं। आज सब चीजें, सुरीले से सुरीले विचार अंत में जाकर बाजार का बाजा बजाने लग जा रहे हैं। शिक्षा की दुनिया में शिक्षण अपने आप में एक बड़ा बाजार बन गया है। पर जैसे बाजार में मुद्रास्फीति आई है, ऐसे ही शिक्षा के बाजार में भी यह मुद्रास्फीति आ गई है। पहले संतरामजी बी.ए. से काम चला लेते थे। आज तो पीएचडी का दाम भी घट गया है।

हम में से कई लोगों को इसी परिस्थिति में आगे काम करना है। जो पढ़ाई आज आप कर रहे हैं, वह आगे-पीछे आपको एक ठीक नौकरी देगी— पर शायद इसी बाजार में। प्रायः साधारण परिवारों से आए हम सबके लिए यह एक जरूरी काम बन जाता है। इसलिए आप सबको एक छोटी-सी सलाह— नौकरी करें जीविका के लिए। लेकिन चाकरी करें बच्चों की। हम अपनी नौकरी में जितना अंश चाकरी का मिलाने जाएंगे, उतना अधिक आनंद आने लगेगा।

विनोबा से हमने आज की बात प्रारंभ की थी। उन्हीं की बात से हम विराम देंगे। यह प्रसंग बहुत सुंदर है। इसे बार-बार दुहराने में भी पुनरुक्ति दोष नहीं दिखता। उनके शब्द ठीक याद नहीं। भाव कुछ ऐसे हैं:

पानी जब बहता है तो वह अपने सामने कोई बड़ा लक्ष्य, बड़ा नारा नहीं रखता कि मुझे तो बस महासागर से ही मिलना है। वह बहता चलता है। सामने छोटा-सा गड्ढा आ जाए तो पहले उसे भरता है। बच गया तो उसे भर कर आगे बढ़ चलता है। छोटे-छोटे ऐसे अनेक गड्ढों को भरते-भरते वह महासागर तक पहुंच जाए तो ठीक। नहीं तो कुछ छोटे गड्ढों को भर कर ही संतोष पा लेता है।

ऐसी विनम्रता हममें आ जाए तो शायद हमें महासागर तक पहुंचने की शिक्षा भी मिल जाएगी।

*सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन के सड़सठवें स्थापना दिवस के अवसर पर,
19 दिसंबर, दो हजार चौदह को दिए गए भाषण के अंश*